❀ निवेदन ❀

नौवी किरण के तत्काल बाद ही दसवी किरण पाठको के हाथों मे पहुँच रही है। आठवी-नौवी किरण मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन के २० बोलो तक के व्याख्यान प्रकाशित हो चुके थे। प्रस्तुत किरण में चौतीस बोलो तक का विवेचन आया है।

स्व० पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज एक असाधारण प्रतिभाशाली और गम्भीर विचारक सन्त महापुरुष थे। उन्होंने अपने दीर्घकालीन साधक जीवन में जो अनुभूति की थी, वह उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हुई है। गहरी से गहरी अनुभूति को सरल से सरल भाषा में प्रकट करने की कला में पूज्य श्री पूर्ण कुशल थे। वे पूर्वकालीन सन्तो की वाणी का उल्लेख करके तथा ऐतिहासिक, शास्त्रीय और कहीं कहीं कल्पित उदाहरण देकर विषय को अत्यन्त सुगम, सरस और असरकारक बना देते थे। पूज्य श्री ने इस प्रकार गहरा तत्त्वविचार सरल बालभाषा में प्रकट किया है। यह विचार जनता के लिए बड़े काम के है। आशा है पाठक ध्यानपूर्वक, एकाग्रभाव से इन्हे पढ़ेगे और मनन करेंगे।

आशा है सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन के शेष व्याख्यान तथा अन्य व्याख्यान भी हम शीघ्र ही पाठको की सेवा में उपस्थित कर सकेंगे।

श्री हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम और जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट का हम आभार मानते हैं, जिनके अनुग्रह से यह साहित्य प्रकाशित कर सके हैं।

निवेदक—
चम्पालाल बांठिया
मन्त्री—श्री जवाहरसाहित्यसमिति

भीनासर (बीकानेर)
९–४–४७.

—: विषय-सूची :—

सम्यक्त्वपराक्रम तीसरा-भाग

इक्कीसवाँ बोल ।

परिवर्त्तना

प्रतिप्रच्छना का विचार करने के पश्चात् यहाँ परिवर्त्तना-परावर्त्तना (शास्त्र की आवृत्ति) करने के विषय मे विचार करना है। इस विषय में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है:—

मूलपाठ

प्रश्न—परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?

उत्तर—परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणेइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन ! सूत्र सिद्धान्त की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—बार-बार सूत्र की आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजन (अक्षर) याद हो जाते हैं और उससे जीव को अक्षरलब्धि और पदानुसारी लब्धि प्राप्त होती है।

व्याख्यान

सूत्रो की वाचना लेने के पश्चात् प्रतिपृच्छना द्वारा सूत्र और अर्थ को असंदिग्ध बना लिया जाता है। मूल सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति न की जाय अर्थात् उन्हें पुनः पुनः फेरा न जाय तो सूत्र और अर्थ का विस्मरण हो जाता है। अतएव सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करते रहना चाहिए। यहाँ भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि सूत्र-अर्थ की आवृत्ति करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करने से व्यजनो का लाभ होता है अर्थात भूले हुए व्यजन याद आ जाते है और साथ ही साथ पदानुसारी लब्धि भी प्राप्त होती है।

जैसे दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार व्यंजन भी भाव-पदार्थ को प्रकाशित करता है। व्यजन व्यंजक अर्थात प्रकाशक है। जैसे अधकार में रक्खी हुई वस्तु प्रकाश के अभाव में दृष्टिगोचर नहीं होती उसी प्रकार आत्मा व्यंजनों के ज्ञान के अभाव मे वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। व्यंजनों का ज्ञान होने से आत्मा अनेक बातें जान सकता है। यह कहावत तो प्रचलित ही है कि पढ़े-गुने के चार आँखें होती हैं, अर्थात् उसके दो चर्मचक्षु

तो होते ही हैं, पर पढने-लिखने से हृदय के नेत्र भी खुल जाते हैं। हिन्दू शास्त्रों में महादेव को त्रिनेत्र अर्थात् तीन आँखों वाला बतलाया है। दो आँखें तो सभी के होती हैं, मगर तीसरी आँख जिसे प्राप्त होती है, वह महादेव बन जाता है। महादेव की तीन आखों की कल्पना क्यों की गई है, यह कहना कुछ कठिन है। मगर यह सरलता-पूर्वक कहा जा सकता है कि हृदय की आँख बन्द रखने वाला मूर्ख कहलाता है और जो हृदय-चक्षु को खुला रखता है वह महादेव हो जाता है। हृदय की आँख खुली होने पर भी अगर खराब काम किये जाएँ तो कैसे कहा जा सकता है कि इसकी हृदय की आँख खुली है? वह तो मानो देखते हुए भी अंधा है। हाँ, जो हृदय की आँख खुली रखकर सत्कार्य में प्रवृत्ति करता है वह शिव अर्थात् कल्याणकारी बन जाता है।

भगवान् का कथन है कि सूत्र-सिद्धान्त की परावर्त्तना या आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजनों का स्मरण हो जाता है। यही नहीं वरन् व्यंजन की लब्धि भी उत्पन्न होती है। अक्षरों के मिलने से शब्द बनता है और शब्दों के मेल से वाक्य बनता है। सूत्रसिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से ऐसी पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है कि जिससे एक अक्षर बोलने से पूरा शब्द और एक शब्द बोलने से पूरा वाक्य तथा एक वाक्य बोलने से दूसरा वाक्य बन सकता है या जाना जा सकता है। अर्थात् एक पद सुनने से दूसरा पद बनाने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि से ही प्राप्त हो सकती है और यह लब्धि सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से उत्पन्न होती है।

आवृत्ति न करने से किस प्रकार की हानि होती है? इस विषय में बचपन में सुनी हुई एक कहावत याद आ जाती है। इस कहावत में गुरु, शिष्य से पूछता है—

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या वीसर जाय।
तवा पर रोटी जले, कह चेला किण काय॥

इन प्रश्नों के उत्तर मे चेला ने कहा—'न फेरने से।' अर्थात् पान फेरा न जाय तो वह सड़ जाता है, घोडा न फिराया जाय तो वह अड़ियल हो जाता है, विद्या न फेरी जाय अर्थात् विद्या की आवृत्ति न की जाय तो वह विस्मृत हो जाती है और यदि तवा पर डाली हुई रोटी न फिराई जाय तो वह जल जाती है। इस प्रकार सब वस्तुओं को फेरने की आवश्यकता रहती है। वास्तव में यह अखिल संसार ही परिवर्तनशील है। ससार का परिवर्तन न हो तो संसार का अस्तित्व भी न रहे। बालक जन्म लेने के बाद यदि बालक ही बना रहे, उसकी उम्र में तनिक भी परिवर्त्तन न हो तो जीवन की मर्यादा कैसे कायम रह सकती है? अतएव प्रत्येक वस्तु में परिवत्तन होते ही रहना चाहिए। इसी प्रकार सूत्र की परिवर्त्तना अर्थात आवृत्ति भी करते रहना चाहिए। सूत्र की आवृत्ति करते रहने से व्यंजनों की प्राप्ति होती है, विस्मृत व्यंजन याद आ जाते हैं और पदानुसारिणी लब्धि उत्पन्न होने से, अक्षर से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्य से दूसरा वाक्य बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है। एक वाक्य सुनकर दूसरा वाक्य और पद सुनकर दूसरा पद किस प्रकार बनाया जाता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा—

एक बार राजा भोज ने एक आश्चर्यजनक घटना देखी। उसने देखा—एक ब्राह्मण के घर उसके पिता आदि का श्राद्ध होने के कारण, उसने श्राद्ध के योग्य भोजनसामग्री तैयार कराइ। उस ब्राह्मण की ऐसी मान्यता थी कि पूर्वज लोग कौवा बनकर आते हैं। इस विचार से वह कौवों को भोजन खिला रहा था। कौवे भोजन

करने लगे। उस ब्राह्मण की स्त्री भोजन की सामग्री बचाना चाहती थी, अतः कौवों को देखकर वह भय करने लगी। वह ब्राह्मण-पत्नी भोजन सामग्री बचाने के लिए ही ऐसा भय प्रदर्शित करने लगी, मानों कौवों से डरती हो !

राजा ने उस ब्राह्मणी को इस प्रकार दिनदहाडे कौवों से भयभीत होते देखकर विचार किया-जो स्त्री दिन के समय कौवों से डरती है, देखना चाहिए उसका चरित्र कैसा है। इस प्रकार विचार कर राजा छिपे वेश में उस स्त्री के चरित्र का पता लगाने लगा।

ब्राह्मण जब कौवों को भोजन खिला रहा था तब उसकी पत्नी कहने लगी—'मुझे कौवों का डर लगता है।' इतना कहकर वह काँपने लगी। स्त्री को काँपते देखकर उसके पति ने कहा—'अगर तुझे इतना डर लगता है तो मैं कौवों को खिलाना ही बन्द कर देता हूँ।' इस तरह उस ब्राह्मणी की मुराद पूरी हुई। अर्थात् भोजन-सामग्री बचा लेने के लिए उसने जो युक्ति रची थी, वह सफल हुई।

रात्रि का समय हुआ। ब्राह्मणी ने बची हुई भोजनसामग्री एक डिब्बे में बन्द की और डिब्बा सिर पर रखकर रवाना हुई। उसका कोई जार-पति नदी के दूसरे किनारे रहता था। ब्राह्मणी अपने जार के पास जाना चाहती थी मगर बीच में नदी आती थी और नदी में ग्राह-मगर आदि जतुओं का भय था। उस स्त्री ने साथ लाई हुई भोजनसामग्री एक ओर नदी में फैंक दी। ग्राह, मगर आदि जंतु भोजनसामग्री खाने में लग गये और वह नदी के परले पार चली गई। अपने जार के पास पहुँच कर और मनोरथ पूर्ण करके वापस लौटी। छिपे वेष में राजा भोज ने यह सब घटना देखी। राजा सोचने लगा—मैं तो यह घटना जान गया हूँ मगर इस प्रकार की

घटनाएँ घटती है, यह बात लोग जानते हैं या नहीं, यह भी मालूम करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उसने अपने पडितों की सभा में कहा—

दिवा काकस्य भयात्

अर्थात्—'दिन के समय काक से डरती है।' इतना कहकर उसने पडितो से कहा—अब आप लोग कहिए कि इससे आगे क्या होना चाहिए ? दूसरे पडित तो चुप रहे, मगर कालीदास ने कहा—

रात्रि तरति निर्मलजलं

अर्थात—'वही रात्रि के समय जल में तैरती है।' यह सुनकर राजा ने कालीदास से कहा—

तत्र वसन्ति ग्राहाद्यो

अर्थात—'जल में तो ग्राह आदि जंतु रहते है। इसके उत्तर मे कालीदास ने कहा—

मर्म जानन्ति सासनीन्द्रिका ?

अर्थात्—जो दिन में कौवो से डरती है और रात्रि मे नदी पार कर जाती है, वह स्त्री ग्राह-मगर आदि जतुओ स बचने का उपाय भी जानती है।

जैसे कालीदास ने एक पद सुनकर दूसरा पद बना दिया, उसी प्रकार एक पद सुनकर दूसरा बना लेने की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होने से ही प्राप्त होती है। वह आलस्य करने से नहीं प्राप्त होती।

शास्त्र कहता है—हे मुनियो ! अगर तुम सूत्र की आवृत्ति करते रहोगे तो तुम्हें, पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होगी। जैसे हथियार घिसते रहने से तीखा रहता है, उसी प्रकार सूत्रविद्या की आवृत्ति करते रहने से आपकी विद्या भी तीक्ष्ण रहेगी।

———

बाईसवाँ बोल।

अनुप्रेक्षा

सूत्र की परावर्त्तना के विषय में इक्कीसवाँ बोल कहा जा जा चुका है। अब अनुप्रेक्षा विषयक प्रश्न उपस्थित होता है। सूत्र की आवृत्ति करने वाले को अनुप्रेक्षा करनी ही चाहिए। सूत्र और अर्थ के विषय में विचार करके, उसमें से तत्त्व की खोज करना अनुप्रेक्षा है। केवल सूत्र पढ लेने मात्र से कुछ नहीं होता। कितने ही विद्वान् ऐसे देखे या सुने जाते हैं, जिनका भाषण सुनकर लोग चकित हो जाते हैं। मगर उनका आचरण देखा जाय तो आश्चर्य के साथ यही कहना पड़ता है कि जिनका भाषण इतना चमत्कारपूर्ण है उनका यह आचरण है। आचरण और भाषण में इस प्रकार अन्तर होने का कारण यही है कि उन्हे असली पद्धति से शिक्षा नहीं दी गई है अथवा उन्होंने शिक्षा की वास्तविक पद्धति नहीं अपनाई है। इसीलिए जैनशास्त्र का कथन है कि ली हुई सूत्रवाचना के विषय में पूछताछ–परिपृच्छना करो, बार-बार आवृत्ति करो और उस पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करो अर्थात् सूत्रार्थ का मनन करके विचार करो। सूत्रार्थ का मननपूर्वक विचार करने से अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा में बड़ा ही आनन्द है। उस आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता। उस आनन्द को वही जान

सकता है जो उसका अनुभव करता है। जिस अनुप्रेक्षा मे अनिर्वचनीय आनन्द समाया है, उसके विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालठिइयाओ हस्सकालठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय णो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ ।

शब्दार्थ

प्र०—भगवन् ! अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ के चिन्तन) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—जीव अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय से आयु कर्म को छोड कर शेष सात कर्मों की गाढी बधी हुई प्रकृतियों को शिथिल करता है। अगर वह प्रकृतियाँ लम्बे काल की स्थिति वाली हो तो अल्पकालीन स्थिति वाली बनाता है। तीव्र रस वाली हों तो मंद रस वाली वनाता है। बहुत प्रदेशो वाली हो तो अल्प प्रदेश वाली बनाता है। आयु कर्म कदाचित् बँधता है, कदाचित नहीं बँधता। अर्थात् पहले

आयुकर्म न बँधा हो तो बँधता है, अन्यथा नही। असाता वेदनीय कर्म नहीं बँधता। और वह जीव अनादि, अनंत और चतुर्गति रूप अपार संसार को शीघ्र ही पार कर लेता है।

व्याख्यान

अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ का चिन्तन) करने से लाभ होता है, यह बात प्रसिद्ध है। मगर शिष्य को गुरु के मुख से बात सुनने में आनन्द आता है। इसीलिए भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर विस्तार के साथ विचार करने का अभी समय नहीं है। अतएव सक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को प्रसन्नता होती है और उससे उसे बड़ा लाभ होता। अनुप्रेक्षा करने से जीव को बहिरग आनन्द भी होता है। किन्तु शास्त्र बहिरंग आनन्द को लाभ नहीं समझता, अन्तरंग आनन्द को ही लाभ रूप मानता है। अन्तरंग आनन्द ही सच्चा आनन्द है। लोग बाह्य आनन्द को आनन्द मानकर भ्रम में पड़े है पर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है? वस्तुतः आत्मा को तो अन्तरंग आनन्द और अन्तरंग लाभ की ही आवश्यकता है।

अनुप्रेक्षा करने से बुद्धि मे और विवेक में जागृति आती है। आप बुद्धि को बडी समझते हैं या ससार के पदार्थों को बडा समझते हैं? बचपन में हमसे पूछा जाता था कि अक्ल बडी या भैस? मैं इस प्रश्न का उत्तर दिया करता था कि भैस बड़ी नहीं, अक्ल बडी है। जब दोबारा पूछा जाता कि भैंस क्यो बडी नही और अक्ल क्यो बडी है? तो मैं उत्तर देता–एक अक्लमंद बहुत-सी भैसो को चरा सकता है और कमअक्ल को एक ही भैंस मार सकती है।

इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि महान है। रेल, तार, वायुयान आदि का बुद्धि द्वारा ही आविष्कार हुआ है। अन्तरंग और बहिरंग वस्तु में भी ऐसा ही अन्तर समझना चाहिए। अतरंग वस्तु बुद्धि के समान है और बहिरंग वस्तु भैंस के समान है। ऐसा होते हुए भी आप किसे चाहते हैं? आप बाह्य वस्तुओं को चाहते हैं या अतरंग वस्तुओं को? कहीं बाह्य वस्तुओं के लिए आप बुद्धि के दुश्मन तो नहीं बन जाते? अगर आप बुद्धि के दुश्मन न बनते हों तो आपको उपदेश देने की आवश्यकता ही न रहे। जहाँ रोग ही न हो वहाँ डाक्टर की क्या आवश्यकता है? और जहाँ रगड़े-झगड़े न हों वहाँ वकील की क्या जरूरत है? इसी प्रकार अगर आप बुद्धि के शत्रु न बनते हों तो हमें उपदेश देने की आवश्यकता ही क्या पड़े? जनता को उपदेश इसी कारण देना पड़ता है कि वे बुद्धि के शत्रु बनकर खान पान, पहनावा आदि में बाह्य पदार्थों को महत्व देते हैं और विवेक बुद्धि को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। जो लोग सदैव विवेक बुद्धि से काम लेते हैं, उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती।

के फलस्वरूप हानिकारक वस्तुओं को त्यागने का विचार उत्पन्न होता है। सूत्रार्थ का चिन्तन अर्थात् अनुप्रेक्षा करने से विवेकवुद्धि जागृत होती है।

साधारणतया अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ होते है, मगर यहाँ स्वाध्याय के साथ सम्बन्ध होने के कारण अनुप्रेक्षा का अर्थ है—तत्त्वविचार करना। भगवान् से प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से अर्थात् सूत्रार्थ का चिन्तन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—अनुप्रेक्षा करने से अध्यवसाय की विशुद्धि होती है और उससे आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की गाढी बँधी हुई प्रकृतियाँ शिथिल हो जाती हैं। कदाचित् निकाचित कर्म का बँधन हो तो वह भी शिथिल हो जाता है।

टीकाकार का कथन है कि अनुप्रेक्षा निकाचित कर्म को भी अपवर्तनाकरण के योग्य बना देती है। कारण यह है कि अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अंग है और स्वध्याय अनतरग तप है। तप से निकाचित कर्म का बँधन भी शिथिल हो सकता है। अतएव अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी इस प्रकार शिथिल कर डालती है, जिससे वह कर्म अपवर्त्तना करण के योग्य बन सकता है। इस तरह अनुप्रेक्षा से गाढ़ बंधन भी शिथिल हो जाते है और दीर्घकाल की स्थिति वाले कर्म भी अल्पकालीन स्थिति वाले बन जाते हैं।

टीकाकार का कथन है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच की शुभ दीर्घ की स्थिति के सिवाय दूसरी समस्त दीव स्थिति अशुभ है। देवायु; मनुष्यायु और तिर्यंचायु कर्म को छोडकर समस्त कर्मों की दीर्घ स्थिति अशुभ ही मानी गई है। इस कथन के लिए प्रमाण देते हुए टीकाकार कहते हैं—

सव्वांसिं पि थिईओ, सुभासुभाणं पि होन्ति असुभाओ।
मणुस्सा तिरच्छदेवाउयं च, मोत्तूण सेसाओ ॥

अर्थात्—दीर्घकाल की समस्त स्थितियाँ अशुभ है। केवल मनुष्य, देव और तिर्यंच के आयुष्य की दीर्घकालीन स्थिति ही अशुभ नही है।

टीकाकार देव, मनुष्य और तिर्यच के शुभ आयुष्य को छोड़ कर और सब स्थिति अशुभ मे गिनते है। अतएव यहाँ दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करने का जो कथन किया किया गया है सो यह कथन अशुभ स्थिति की अपेक्षा समझना चाहिए।

गुरु कहते हैं-हे शिष्य! अनुप्रेक्षा से शुभ अध्यवसाय होता है। सूत्रार्थ का चिन्तन करने से ऐसा शुभ अध्यवसाय होता है कि वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों के गाढे बधन को ढीला कर देता है। इसी प्रकार सात कर्मों की जो प्रकृति लम्बे समय की स्थिति वाली होती है उसे अल्पकाल की स्थिति वाली बना देती है। अर्थात् दीर्घकाल में भोगने योग्य कर्मों को अल्पकाल मे भोगने योग्य बना देती है। इसके अतिरिक्त अनुप्रेक्षा से तीव्र अनुभाग भी मन्द अनुभाग के रूप में परिणत हो जाता है अर्थात् तीव्र रस वाले कर्म मद रस वाले हो जाते हैं। यहाँ तीव्र अनुभाग से तीव्र अशुभ अनुभाग ही ग्रहण करना चाहिए। अनुप्रेक्षा के द्वारा तीव्र रस देने वाले कर्म मंद रस देने वाले बन जाते हैं। परन्तु यह बात अशुभ प्रकृतियो के लिए ही समझना चाहिए। अगर शुभ अनुभाग हो तो शुभ अनुभाग मे वृद्धि होती है और अशुभ अनुभाग हो तो अशुभ अनुभाग की वृद्धि होती है, मगर अनुप्रेक्षा तीव्र अशुभ अनुभाग को मंद बना देती है

और शुभ अनुभाग की वृद्धि करती है, क्योंकि अनुप्रेक्षा शुभ है। शुभ से शुभ की ही वृद्धि होती है और अशुभ से अशुभ की वृद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ होता है ? इसके लिए भगवान् कहते हैं—अनुप्रेक्षा बहुत प्रदेशों वाली कर्म प्रकृति को अल्प प्रदेश वाली बनाती है।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा से ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि वह कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—इन चारों के अशुभ बंधनों को शुभ में परिणत कर देता है।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि यहाँ आयु-कर्म को छोड़ देने का क्या कारण है ? शुभ परिणाम से शुभ आयु का बंध होता है और मुनि जन जो अनुप्रेक्षा करते हैं वह शुभ परिणाम वाली ही होती है। ऐसी दशा में यहाँ आयुष्य का निषेध किस उद्देश्य से किया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुप्रेक्षा से आयुष्य कर्म का बंध कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता। कारण यह है कि आयुष्य कर्म एक भव में एक बार ही बँधता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल में बँधता है। अगर अनुप्रेक्षा करने वाला संसार में रहता है तो भी वह अशुभ कर्म नहीं बाँधता है, यदि वह मोक्ष जाता है तो आयुष्य कर्म का बँध ही नहीं करता। इस प्रकार अनुप्रेक्षा करने वाले को कदाचित् आयुष्य कर्म बँधता है, कदाचित् नहीं बँधता। इसी कारण यहाँ आयुष्यकर्म छोड़ दिया गया है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ है ? इस विषय मे कहा गया है—अनुप्रेक्षा करने वाला असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता अर्थात् बार-बार उसका बंध नहीं करता। यहाँ सूत्रपाठ

मे 'च' अक्षर भी आता है। वह इस बात का द्योतक है कि असातावेदनीय कर्म के समान अन्य अशुभ प्रकृतियाँ भी अनुप्रेक्षा करने वाला नहीं बाँधता।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि मूल पाठ से 'भुज्जो भुज्जो' अर्थात् बार-बार पद का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है?

इस आशंका का समाधान यह है कि उक्त पद का प्रयोग करने का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रमत्त गुणस्थान मे वर्त्तमान जीव कदाचित् असातावेदनीय कर्म का बंध करता है, परन्तु वह बार-बार बंध नही करता। इसके अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहाँ यह पाठान्तर भी है—

सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई।

अर्थात्—अनुप्रेक्षा करने वाला बार-बार सातावेदनीय कर्म बाँधता है।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ प्रमत्त-गुणस्थान का प्रश्न नही है वरन् अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप का ही प्रश्न है। अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ प्रकृति का बंध होना ही सभव है, अत. यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट होती है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ प्रकृति शेष रहती है, वह संसार के बंधन में उस प्रकार डालने वाली नहीं है, जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है। उदाहरण के लिए—वजन की दृष्टि से लोहे की बेड़ी और सोने की बेडी समान ही है, पर लोहे की बेड़ी सहज से

तोडी नहीं जा सकती और सोने की बेडी जब चाहे तभी तोडी जा सकती है। लोहे की बेड़ी वाला इच्छा के अनुसार किसी भी जगह नहीं जा सकता, पर सोने की बेडी वाला चाहे जहाँ जा सकता है और सन्मान प्राप्त कर सकता है। शुभ प्रकृति और अशुभ प्रकृति में भी ऐसा ही अन्तर है। शुभ प्रकृति वाला संसार से छूटने का उपाय कर सकता है परन्तु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नहीं कर सकता।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस अनादि संसार में से निकल सकता है। जीव और संसार का संबन्ध कब से है, इसकी कोई आदि नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि जीव मोक्ष तो जाता है पर वहाँ से मोह के प्रताप से वह वापिस संसार में जन्म धारण करता है। जैसे जल निर्मल अवस्था से मलीन अवस्था में और मलीन से निर्मल अवस्था में पहुँच जाता है, उसी प्रकार जीव भी मोक्ष में जाता और फिर संसार में आ जाता है। और फिर मोक्ष चला जाता है। आत्मा मोक्ष में तो चला जाता है मगर जब वह अपने शासन की उन्नति और दूसरों के शासन की अवनति देखता है तो उसे राग होता है और जब अपने शासन की अवनति तथा दूसरों के शासन की उन्नति देखता है तब उसे द्वेष होता है। इस प्रकार राग और द्वेष के कारण जीव मोक्ष में से फिर ससार में अवतार लेता है।

यह कथन अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। जो आत्मा राग और द्वेप का क्षय होने पर मुक्त हुआ है, उसे फिर राग द्वेष नहीं हो सकते। और इस कारण वह संसार में भी नहीं आ सकता। मोक्ष को प्राप्त कर्म रजहीन आत्मा भी अगर कर्मरज से लिप्त होकर फिर ससार में आ जाय तो ससार और जीव का संबध

सादि हो जायगा और यह भी कहा जा सकेगा कि अमुक जीव अमुक समय से कर्मरज-सहित है। मगर ऐसा मानना भूलभरा और भ्रामक है, क्योंकि जो जीव कर्मरज-रहित हो गया है वह फिर कर्म-रज-सहित नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा का मोक्ष मे जाकर फिर ससार मे आना युक्तिसंगत नही है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अगर अनादिकालीन है तो वह किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है और जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव और कर्म का सबंध प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनादि नहीं है। गंगा नदी के किनारे खड़े होकर चार दिन पहले जो जलधारा देखी थी, वही जलधारा चार दिन बाद भी देखी जाय तो वह पहले जैसी ही दिखाई देगी, मगर वास्तव में चार दिन पहले जो जलधारा देखी गई थी वह तो कभी की चली गई है। पानी की धारा लगातार बहती रहती है, इसी कारण उसका सम्बन्ध टूटा हुआ मालूम नहीं होता, बल्कि ऐसा जान पडता है कि यह वही जलधारा है जो चार दिन पहले देखी थी। मगर वस्तुतः वह जलधारा पहले की नहीं है। फिर भी उपचार से कहा जाता है कि यही वह जलधारा है। वास्तव में जो जलधारा पहले देखी गई थी वह तो उसी समय चली गई है। वर्त्तमान में तो नवीन ही जलधारा है, जो पहले नहीं देखी गई थी। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले जिन कर्मों का सम्बन्ध हुआ था, वे कभी के भोगे जा चुके हैं, मगर नवीन नवीन कर्म सदैव आते और बँधते रहते हैं, इसी कारण यह कहा जाता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। शास्त्र के कथनानुसार कर्म की आदि

भी है और अन्त भी है, परन्तु जीव के साथ कर्म एक के बाद दूसरे लगातार आते रहते हैं। इसी कारण जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है।

आशंका की जा सकती है कि कर्म जब लगातार आते और बँधते ही रहते हैं तो जीव कर्म रहित किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित हो जाता है। नदी के ऊपर से आने वाले प्रवाह को रोक दिया जाय तो धारा टूट जाती है। उसी प्रकार कर्मप्रवाह को रोक देने से अर्थात् नवीन कर्मों को न आने देने से जीव कर्मरहित हो जाता है।

दूध और घी साथ ही होते हैं। दूध और घी के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दूध हुआ या घी। फिर भी क्रिया द्वारा दूध और घी पृथक् पृथक् किये जा सकते हैं। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले आत्मा या पहले कर्म है? कर्म आत्मा के साथ ही है। अनादिकाल से आत्मा कर्मों के साथ और कर्म आत्मा के साथ बद्ध हैं, यह कहा जा सकता है। फिर भी प्रयोग द्वारा जैसे दूध में से घी अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्मों का भी पृथक्करण हो सकता है। अरणि की लकड़ी के साथ ही आग उत्पन्न होती है, फिर भी उस लकड़ी को घिसने से आग उसमें से बाहर निकल जाती है। इसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग की आदि नहीं है, तथापि प्रयत्न द्वारा जीव और कर्म पृथक् किये जा सकते हैं।

शास्त्रकार कर्म को ही दुःख कहते हैं। श्री भगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा है कि—दुखी जीव दुःख का स्पर्श करता है या अदुखी जीव दुःख का स्पर्श करता है? इस प्रश्न

के उत्तर में भगवान् ने कहा है—'दुखी जीव ही दुःख का स्पर्श करता है, दुःखरहित जीव दुःख का स्पर्श नहीं करता।' यहाँ दुःख का अर्थ कर्म है। अर्थात् जिसमें कर्म हैं वही जीव कर्म का बध करता है, फिर भले ही वह कर्म शुभ हो या अशुभ हो। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के ऊपर आवरण डालते हैं और दोनो प्रकार के कर्म वस्तुतः दुखरूप ही हैं। अतः कर्म को दुःख रूप मानकर आत्मा को कर्महीन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

लोग समझते हैं कि हमें अमुक ने दुःख दिया है या अमुक ने मारा है। मगर ज्ञानी जन कहते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। इसके साथ ही ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि तुम दुख देने या मारने के कार्य का बाह्य कारण तो देखते हो मगर उसका आन्तरिक कारण नहीं देखते। तुम यह तो कहते हो कि मुझे रोग हुआ है लेकिन यह क्यों नहीं देखते कि रोग आया कहाँ से है? यद्यपि रोग के कीटाणु हवा में भी आ सकते हैं तथापि अगर तुम सावधानी रक्खो और रहन-सहन तथा खानपान वगैरह का ध्यान रक्खो तो रोग ही क्यों हो? तुम जानते हो कि फलां चीज़ हानिकारक है फिर भी उसे खाना क्या रोग को आमन्त्रण देने के समान नहीं है? अतः यदि सावधानी रक्खी जाय तो रोग उत्पन्न ही क्यों हो? यही बात प्रत्येक कार्य के लिए लागू करो और कर्म के विषय में भी यही देखो कि अगर सावधानी रक्खी जाय और प्रयत्न किया जाय तो कर्म आवे कैसे? और आत्मा को दुःख हो कैसे? आत्मा को दुःख न हो इसी लिए यह प्रार्थना की गई है—

श्वासोश्वास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकड़ रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमरण जिनवर रे॥

भक्त कहते हैं—दुःख से बचने के लिए परमात्मा का भजन करो। अगर कोई कहे कि मुझे तो समय ही नहीं मिलता, तो फिर भजन किस प्रकार करूँ ? ऐसा कहने वाले को भक्त उत्तर देते हैं—परमात्मा का भजन करने के लिए तुम्हें समय नहीं मिलता तो न सही। कोई हानि नहीं है। क्योंकि इस कार्य के लिए किसी खास अलग समय की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा का भजन किस प्रकार करना चाहिए, यह सीखने के लिए तो समय की आवश्यकता रहती है, लेकिन परमात्मा का स्मरण करने के लिए किसी खास समय की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इसका अभ्यास तो श्वासोच्छ्वास की तरह हो जाता है। जब परमात्मा के स्मरण का अभ्यास श्वासोच्छ्वास लेने और छोड़ने के अभ्यास की तरह स्वाभाविक बन जाय तो समझना चाहिए कि परमात्मा का भजन स्वाभाविक रूप से हो रहा है।

शास्त्र में कितनेक ऐसे उपाय बतलाये गये हैं कि परमात्मा का नाम न लेने पर भी उसका भजन किया जा सकता है। अजपाभ्यास हो जाने से परमात्मा का नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं रहती। परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण करने के अनेक उपायों में से एक उपाय है—प्रामाणिकतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करना। प्रामाणिकतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करने से परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण हो जाता है। मान लो, तुम किसी के नौकर हो। तुम्हारा स्वामी सदैव तुम्हारे साथ नहीं रहता। फिर भी तुम्हें यही मानना चाहिए कि तुम्हारा स्वामी तुम्हारे सामने ही है, अतः प्रामाणिकता के साथ काम करना चाहिए। स्वामी भले ही मेरा काम न देखता हो, मगर परमात्मा तो मेरा काम देखता ही है। अतएव मुझे अपने काम में अप्रामाणिकता

का व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य में प्रामाणिकता रखना परमात्मा का नाम लिये विना ही परमात्मा के स्मरण करने का और सुखी होने का सरल उपाय है। अगर परमात्मा के भजन के लिए तुम्हे अलग समय नहीं मिलता तो इसी भाँति परमात्मा का स्मरण करो। कोई भी कार्य करते समय यही समझना चाहिए कि परमात्मा हमारा कार्य देख रहा है। इस प्रकार समझ कर प्रामाणिकतापूर्वक कार्य करना भी परमात्मा का स्मरण ही है। मगर लोग प्रायः ऐसा करते देखे जाते हैं कि ऊपर से. तो परमात्मा का नाम स्मरण करते हैं, मगर कार्य करते समय मानो परमात्मा को भूल ही जाते हैं। लेकिन यह सच्चा नामस्मरण नही है। अगर परमात्मा को दृष्टि के सामने रखकर प्रामाणिकता के साथ कर्त्तव्य का पालन किया जाय तो स्व-पर कल्याण हो सकता है।

अनुप्रेक्षा का अन्तिम फल-क्या है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—अनुप्रेक्षा करने से जीवात्मा अनादि, अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले अपार चतुर्गतिरूप संसार--अरण्य को शीघ्र ही पार कर जाता है।

जिसका किनारा दिखलाई देता हो उसे पार करना कठिन नही है, किन्तु जो अपार है, जिसका किनारा नजर नहीं आता, उसे पार करना बहुत कठिन है। अब इस बात पर विचार करो कि जो वस्तु अपार के पार पहुँचा देती है, वह कैसी होगी ? यहाँ संसार को प्रवाह की अपेक्षा अपार कहा गया है। यह अपार संसार अनादि है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक यह चार गतियाँ इस अपार संसार के चार किनारे हैं। इन चार गति रूप किनारों से संसार का अन्त तो मिलता है, मगर इस ससार-अटवी का मार्ग इतना लम्बा है कि जीव भ्रम के कारण भूल में पड़ जाता है और इस कारण

बाहर निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है। फिर भी अनुप्रेक्षा का अवलम्बन लेकर जीव इस संसार–अटवी को भी पार कर सकता है।

मान लीजिए किसी नगर में जाने का मार्ग विकट और दुर्गम है। उस मार्ग में, बीच-बीच में विश्राम-स्थल बने हैं। ऐसी स्थिति में एक विश्राम स्थल से दूसरे विश्रामस्थल तक, दूसरे से तीसरे विश्रामस्थल तक, इस तरह आगे बढ़ते जाने से विकट और दुर्गम मार्ग भी तय किया जा सकता है। लेकिन अगर माग में ही भटक गये–रास्ता ही भूल गये और यही पता न चला कि अब किस ओर जाना है तो नगर में पहुँचना कठिन हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए उस नगर का मार्ग विकट और दुर्गम ही है। इसी प्रकार ससार भी अपार है, यद्यपि चार गतियाँ उसके चार किनारे हैं और उसे पार भी किया जा सकता है। मगर जो भ्रम में पड़कर एक गति से दूसरी गति में ही भटकता रहता है, उसके लिए ससार अपार ही है। नरक गति का भी पार आता है, मनुष्य गति का भी पार आता है। वनस्पति काय की लम्बी स्थिति होने पर भी उसका पार आ जाता है। देवगति की स्थिति का भी अन्त है। इस प्रकार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच, यह चारों गतियाँ संसार के किनारे तो हैं लेकिन उसका मार्ग लम्बा है। इस कारण जीव फिर उसमें पड़ जाता है और इस प्रकार ससार में ही गोते लगाता रहता है। इसी कारण ससार अपार कहलाता है। अनुप्रेक्षा से यह अपार संसार भी शीघ्रतापूर्वक पार किया जा सकता है।

कोई मनुष्य अपार समुद्र में गिर पड़ा है। इसी बीच उसे कोई नौका मिल जाती है। नौका का मालिक समुद्र में पड़े मनुष्य

से कहता है—'आ जा, जल्दी कर, इस नौका पर सवार हो जा।' क्या समुद्र में पड़ा मनुष्य ऐसे समय विलम्ब करेगा? अगर वह मनुष्य विचारशील होगा तो इतना विचार अवश्य करेगा कि जो मनुष्य मुझे नौका पर चढ़ने के लिए कह रहा है, वह राग-द्वेष से भरा तो नहीं है? और मुझे किसी राग-द्वेष से प्रेरित होकर तो नौका पर चढ़ने को नहीं कहता? इस प्रकार विचार करने के बाद अगर उसे खातिरी हो जाय कि वह मनुष्य निस्पृह है और निस्पृहभाव से ही मुझे नौका पर चढ़ने के लिए कहता है तो अगर वह बुद्धिमान् है तो नौका पर चढने में विलम्ब नहीं करेगा। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे अवसर पर नौका का शरण लिये बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार यह अनादि संसार भी अपार है। इस अपार संसार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा नौका के समान है। ऐसी अवस्था में ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा रूपी नौका का शरण क्यो न लिया जाय?

अनुप्रेक्षा ऐसी जीवनसाधक है, फिर भी सांसारिक लोगो की दशा विचित्र ही नज़र आती है। लोग दूसरे सामान्य कार्यों मे तो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं मगर अनुप्रेक्षा रूपी नौका को नहीं अपनाते।

'वह ऐसा है, वह वैसी है और फलां आदमी ऐसा है।' इस प्रकार की अनेक विकथाओ मे लोग अपना समय नष्ट करते हैं। उन्हे यह विचार नही आता कि कोई पुरुष चाहे जैसा हो, कोई स्त्री कैसी भी हो, उसकी निन्दा करने से हमे क्या लाभ होगा? दूसरों की बुराई देखने और निन्दा करने से मुझे क्या लाभ होगा? मैं यही क्यों न देखूं कि मैं कैसा हूँ! मुझमें कितने विकार भरे हैं, यह मै न देखूं और दूसरो के दोषों की टीका करूँ, यह कहाँ तक उचित है? दूसरे के दोष न देखकर अपने ही दोषों को दूर करने में भलाई है।

बुद्धिमान् पुरुष दूसरे की निन्दा में नहीं पड़ते । वह परमात्मा का शरण लेकर अपनी बुद्धि निर्मल बनाते हैं और अपने अवगुण देखकर कहते हैं:—

हे प्रभु ! मेरा ही सब दोष,
शीलसिन्धु कृपालुनाथ अनाथ आरतपोष॥ हे प्रभु० ॥

अर्थात्—प्रभो ! सारा दोष मेरा ही है, और किसी का नहीं। इस प्रकार भक्त जन अपना ही दोष मानते हैं। इसी तरह तुम भी अगर परमात्मा का शरण ग्रहण करके अपनी बुद्धि निर्मल बनाओ तो तुम्हें भी यह जान पड़ेगा कि सारा दोष मेरा ही है। अगर तुम्हारा कोई पड़ौसी दुखी हो तो इसमें तुम्हारा दोष है या नहीं? पडौसी के दुःखी होने में तुम्हारा पाप भी कारण हो सकता है। शास्त्र के कथनानुसार इष्ट गध, इष्ट रूप आदि पुण्य के प्रभाव से ही प्राप्त होते हैं। तुम इष्ट गध वगैरह चाहते हो तो भाव वस्तु की ओर क्यों नही देखते ? तुम यह क्यों नहीं समझते कि अगर मेरा पुण्य प्रबल होता तो मुझे दुखो पड़ौसी क्यों मिलता ? अतएव यदि पडौसी दुखी है तो यह मेरा ही दोष है। तुम्हारा पुण्य और तुम्हारा पाप दूर-दूर तक काम करता है। शास्त्र में कहा है कि लवणसमुद्र की वेलाएँ सोलह हजार डगमाला के ऊपर चढ़ती हैं। उन्हें अगर दबा न दिया जाय तो गजब हो जाय ! परन्तु बयालीस हजार देव जंबूद्वीप की तरफ से, साठ हजार देव ऊपर से और बहत्तर हजार देव धातकीखंड की ओर से उन समुद्र वेलाओ को दबाये रखते हैं। इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है—हे भगवन्! क्या वह समुद्रवेला देवों के दबाने से दब जाती है ? इस प्रश्न के

कितने-कितने कष्ट सहने के बाद यह मन मिला है। और उसमे भी सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक के मन का कितना अधिक महत्व है। इस पर विचार करो। बड़ी-बडी कठिनाइयों के बाद मिला हुआ मन कही बुरे कामों की ओर न चला जाय, इस बात की कितनी चिन्त रखनी चाहिए? किसी बड़े आदमी का लडका कुसंगति में पड़ जाता है तो तो उसके लिए कितनी चिन्ता की जाती है? इसी प्रकार तुम भी अपने मन को बुराई की ओर न जाने देने की चिन्ता रक्खो। अगर मन को काबू में कर लिया तो आत्मकल्याण साधने में देर न लगेगी।

तेईसवाँ बोल ।

धर्मकथा

पिछले प्रकरण में अनुप्रेक्षा पर विचार किया गया है । यहाँ धर्मकथा के सम्बन्ध में विचार करना है । अनुप्रेक्षा करने वाला ही धर्म का उपदेश दे सकता है । लोग समझते है, धर्मोपदेश देना सरल काम है, मगर दरअसल यह बड़ा कठिन काम है । धर्मोपदेश द्वारा लोगों को सन्मार्ग पर भी लाया जा सकता है और कुमार्ग पर भी घसीटा जा सकता है । गांधीजी ने अपने एक लेख में 'हिन्दूधर्म का उपदेश कौन दे सकता है' इस विषय में अपने विचार प्रकट किये थे । गांधीजी के विचार बतलाने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इस विषय में शास्त्र क्या कहता है । श्रीसूयगडांग के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है:—

आयगुत्ते सया दंते छिन्नसोए अणासवे ।
ते सुद्धधम्माक्खंति पडिपुण्ण मणेलिसं ॥

भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि जिस काल में वीतराग देव नहीं होते उस काल में उनके मार्ग का उपदेश देने का अधि-

कारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—अपनी आत्मा को गुप्त रखने वाला, क्षमावान; इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरास्रव पुरुष ही वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सकता है। जो हिंसा न करता हो, असत्य भाषण न करता हो, किसीकी तिनका जैसी तुच्छ चीज़ भी बिना आज्ञा न लेता हो, स्त्री मात्र को माता के समान समझता हो और जो धर्मोपकरणों पर, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखता हो, वही व्यक्ति शुद्ध धर्म का उपदेश दे सकता है।

धर्म का उपदेश कौन दे सकता है, इस विषय में भगवान महावीर का कथन बतलाया जा चुका। अब यह देखना है कि इस सम्बन्ध मे गांधीजी क्या कहते हैं ? गाधीजी ने अपने लेख मे लिखा था कि हिन्दूधर्म का उपदेश न तो बड़े-बड़े विद्वान् ही दे सकते हैं और न शकराचार्य ही दे सकते है। हिन्दूधर्म का उपदेश देने का अधिकारी वही है जो हिंसा न करता हो, असत्य न बोलता हो तथा जो चोरी, मैथुन और परिग्रह वगैरह दुर्गुणों से बचा हुआ हो।

इस प्रकार धर्मकथा करना अर्थात् धर्मोपदेश देना कुछ सरल काम नहीं है। मगर आज तो धर्मोपदेशक बोलने के लिए तत्पर ही रहते हैं, चाहे वे धर्मोपदेश देने के अधिकारी हों या न हो। शास्त्र कहता है—धर्मोपदेश देने से पहले वाचना, पृच्छना, परा-वर्त्तना और अनुप्रेक्षा इन चार बातों का सिद्ध कर लेना आवश्यक है। इन्हें सिद्ध कर लेने वाला ही धर्मोपदेश दे सकता है। वाचना आदि चार बातों को सिद्ध किये विना जो उपदेश दिया जाता है वह लोगों के हृदय पर अच्छा प्रभाव डालने के बदले उलटा असर डाल सकता है। शास्त्र में, धर्मकथा सम्बन्धी प्रश्न उक्त चार बातो के बाद इसी कारण रक्खा गया है। जिसमें वाचना, पृच्छना, परा-

वर्त्तना और अनुप्रेक्षा-यह चार बातें हो वही धर्मकथा कर सकता है। इस धर्मकथा के विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है:—

मूलपाठ

प्रश्न—धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—धम्मकहाए णं णिज्जरं जणयइ, धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ?

शब्दार्थ

प्र०—भगवन् ! धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—धमकथा से निर्जरा होती है और जिन भगवान् के प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन-प्रभाव से जीव भविष्य काल में शुभ कर्म का बंध करता है।

व्याख्यान

'धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात तो यह कही है कि धर्मकथा करने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा करने वाला किसी भी प्रकार के प्रलोभन में न पडकर यही समझे कि धर्मकथा के द्वारा मैं अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हूँ।

स्त्रियाँ अपने घर का कचरा साफ करती हैं। क्या इसके बदले वे किसी से पैसा मांगती हैं ? माता अपनी संतान की सेवा करती है, पर क्या वह संतान से बदले में कुछ माँगती है ? अपने घर

का कचरा साफ करने वाली स्त्री और अपनी संतान की सेवा करने वाली माता किसी प्रकार का बदला नहीं माँगती। इसका कारण यह है कि वे उस कार्य को अपना ही कार्य समझती हैं। जब माता भी अपना कार्य समझ कर किसी प्रकार का बदला नहीं चाहती तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि साधु धर्मकथा करने का बदला चाहे? साधु को समझना चाहिए कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह सब आत्मा का कचरा साफ करने के लिए ही कर रहा हूँ। अतएव मुझे अपने कार्य का बदला माँगना या चाहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् वाह वाह की भी इच्छा उसे नहीं करना चाहिए। साधु को निर्जरा के निमित्त ही सब कार्य करना चाहिए। घर का कचरा साफ करने वाली स्त्री यह नहीं सोचती कि मैं किसी पर एहसान या उपकार कर रही हूँ। इसी प्रकार साधु को भी धर्मकथा करके एहसान नहीं करना चाहिए, न अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार साधु को इस बात से दुखी भी नहीं होना चाहिए कि मेरी बात कोई मानता नहीं है या सुनता नहीं है।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी आत्मा को पवित्र बना लिया जाय तभी धर्मकथा की जा सकती है। जिस बात का उपदेश देना हो, उसके लिए पहले साधु को स्वयं ही सावधान होना चाहिए और मानना चाहिए कि मेरी बात कोई माने या न माने, पर मुझे तो इससे लाभ ही होगा। उदाहरणार्थ—जो साधु या साध्वी स्वयं रेशमी वस्त्र पहनेगा वह दूसरों को उसके त्याग का उपदेश किस प्रकार दे सकेगा? साधु को सिर्फ लज्जा की रक्षा के लिए शास्त्रविहित और परिमित वस्त्र रखना चाहिए। उन्हें ऐसे वस्त्रों का उपयोग नहीं करना चाहिए जो मोह उत्पन्न करें अर्थात् कीमती या

सुन्दर हों। हम में अभी तक वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देने की शक्ति नहीं आई है, अतएव हमें वस्त्र पहनने पड़ते हैं, परन्तु वे वस्त्र इतने सादे होने चाहिए कि फैशन के भाव भी उत्पन्न न हों और मोह भी न उत्पन्न हो।

मतलब यह है कि साधुओं को इस बात का दुःख नहीं मानना चाहिए कि हमारा उपदेश कोई मानता नहीं या सुनता नहीं। उन्हें केवल यही सोचना चाहिए कि मेरा उपदेश कोई माने या न माने, अगर मैं स्वयमेव अपने उपदेश के अनुसार वर्त्ताव करूँगा तो मेरा कल्याण ही होगा।

धर्मकथा किसे कहते हैं? और धर्मकथा के कितने भेद हैं? इस विषय में श्रीस्थानांगसूत्र में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मगर उस सारे वर्णन का सार यही है कि धर्मकथा में धर्म की ही बात होनी चाहिए, दूसरी कोई बात नहीं होनी चाहिए। धर्मकथा करते समय कभी-कभी स्त्री, राजा या राज्य की बात भी चल पड़ती है लेकिन यह सब बातें धर्म की सिद्धि के लिए ही होनी चाहिए। धर्मकथा में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं आना चाहिए जिससे मोह की वृद्धि हो। मोह की वृद्धि करने वाली कथा धर्मकथा नहीं वरन् मोह-कथा है।

आजकल धर्मकथा के नाम पर ऐसे-ऐसे रास गाये जाते हैं कि उन्हें सुनकर श्रोता और अधिक मोह में पड़ जाते हैं। इस प्रकार मोहपोषक रासों का गाना धर्मकथा किस प्रकार कहा जा सकता है? धर्मकथा वही है, जिसे सुनकर मोह उत्पन्न न हो, बल्कि धर्मभावना ही उत्पन्न हो। किसी भी वस्तु का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा धर्मभावना

पुष्ट करने वाली धर्मकथा भी कही जाती है और मोह उत्पन्न करने वाली मोहकथा भी कही जा सकती है। मगर सच्ची धर्मकथा तो वही है जो धर्मभावना को ही बढ़ाती हो।

भगवान् से पूछा गया है कि धर्मकथा करने से किस फल की प्राप्ति होती है? प्रत्येक कार्य की अच्छाई-बुराई का निर्णय उसके अच्छे या बुरे फल को देखकर ही किया जाता है। फल अच्छा हो तो वह कार्य भी अच्छा माना जाता है और यदि फल अच्छा न हो तो कार्य भी अच्छा नहीं माना जाता। अब यहाँ यह देखना है कि कि धर्मकथा का फल कैसा मिलता है? धर्मकथा का एक फल भगवान् ने निर्जरा होना बतलाया है। अतः जिससे निर्जरा हो वह धर्मकथा है और जिससे निर्जरा न हो वह धर्मकथा भी नहीं है।

यहाँ निर्जरा का अभिप्राय कर्म की निर्जरा होना है। धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा हुई है या नहीं, इसकी पहचान विकारों का दूर होना है। अगर विकार दूर हो और चित्त को शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमने धर्मकथा की है। ऐसा न हो तो वह धर्मकथा ही नहीं। जिससे प्यास बुझे वही पानी है, जिससे भूख मिटे वही भोजन है। इसी प्रकार अगर चित्त के विकार दूर हों और शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मों की निर्जरा हो रही है और जिससे कर्मों की निर्जरा हो वही धर्मकथा है।

धर्मकथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त को शान्ति मिलती है। इस कारण सब से पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौन-से हैं? डाक्टर रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है। जब तक रोग का निदान न किया जाय तब तक दवा कैसी दी जा सकती है? इसी तरह जबतक विकारो का

पता न लगा लिया जाय तब तक यह बात कैसे जानी जा सकती है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए हैं या नहीं ? इस कारण सर्वप्रथम अपने विकारों को जान लेने की आवश्यकता है। विकारो मे सब से बड़ा विकार मोह है। मोह अन्य विकारो का बीज है। उसीसे दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। फिर भले ही वह मोह काम का हो या क्रोध का हो, लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो। मगर विकारो का राजा मोह ही है। जिसे सुनने से मोह में कमी हो वही धर्मकथा है। और जिसे सुनने से मोह में कमी न हो, बल्कि मोह उलटा बढ जाय, वह धर्मकथा नही, मोहकथा है।

तुम व्याख्यान सुनने के लिए प्रतिदिन आते हो। मगर यह देखो कि क्या तुमने धर्मकथा सुनी है ? अगर सुनी है तो क्या तुम्हारे विकार मिटे या कम हुए हैं ? अगर नहीं, तो यही कहा जा सकता है कि या तो धर्मकथा सुनने वालों में कोई खामी है या सुनाने वाले में कोई कमी है। मैं अपने सम्बन्ध में तो यही मानता हूँ कि खामी मुझ में ही है। भगवान का उपदेश सुनकर तो शेर और बकरी भी आपस का वैरभाव छोड देते थे। तुम लोग मेरा उपदेश सुनकर अगर वैरभाव नहीं छोड़ते तो इसमें मेरी ही कमी समझनी चाहिए। मुझे अपनी खामी दूर करना चाहिए। अगर तुम अपनी खामी मानते होओ तो तुम्हें भी उसे दूर करना चाहिए। मेरा व्याख्यान देना और तुम्हारा व्याख्यान सुनना कर्म की निर्जरा के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार धर्मकथा का एक फल तो कर्मों की निर्जरा होना है।

धर्मकथा का दूसरा फल क्या है ? इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं—जो धर्मकथा करता है वह प्रवचन की प्रभावना करता है।

वचन और प्रवचन में बहुत अन्तर है। वचन साधारण होता है और प्रवचन में दूसरो की लाभ हानि समाई रहती है। उदाहरणार्थ—एक न्यायाधीश अपने घर पर घर के लोगों से बातचीत करता है और वही न्यायाधीश न्यायालय में न्याय के आसन पर बैठकर न्याय करता है। इन दोनों प्रकार की बातों में कितना अन्तर है? घर की बातों से किसी का वैसा लाभ या हानि नहीं, मगर न्यायालय में बैठकर न्याय देने में दूसरो का लाभ और अलाभ होता है। वचन और प्रवचन में भी इतना ही अन्तर है। साधारण बातचीत को वचन कहते हैं और जिस वचन में दूसरों का लाभ-अलाभ हो उसे प्रवचन कहते हैं। दूसरे के प्रवचन से तो हानि भी भी हो सकती है मगर वीतराग के प्रवचन में एकान्त लाभ ही लाभ है। इस प्रकार के प्रवचन की उपेक्षा करना भारी भूल है। इसी भूल के कारण जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। इस इस प्रकार की भूल करना मोह का ही प्रताप है।

न्याय करते समय अंधेरा हो जाय तो न्यायाधीश को प्रकाश की सहायता लेनी पड़ती है, इसी प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन तो है मगर उसे प्रकाशित करने वाले महात्मा ही हैं। जो धर्मकथा करता है अर्थात् धर्मदेशना देता है, उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वह प्रवचन की आराधना करता है। प्रवचन की आराधना करने वाला इस काल में भी भद्र अर्थात् कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और आगामी काल में भी कल्याणकारी फल प्राप्त करता है।

धर्मकथा करते समय धर्मोपदेशक को यह ख्याल रखना चाहिए कि धर्मकथा के द्वारा मुझे प्रवचन की सेवा करनी है। मुझे धर्मकथा

को लोकरंजन का साधन नहीं बनाना है। इसी भावना के साथ धर्मकथा करनी चाहिए।

संयोगवश आज ज्ञानपंचमी का दिन है। यह दिन ज्ञान की आराधना करने का है। शास्त्र में कहा है—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहीइ छेयपावगं॥

—दशवैकालिकसूत्र।

अर्थात्—पहले ज्ञान की आवश्यकता है और फिर दया आवश्यक है। दया श्रेष्ठ है पर ज्ञान के बिना दया नहीं हो सकती। दया के लिए ज्ञान होना आवश्यक है। वही दया श्रेष्ठ है जो ज्ञान-पूर्वक की जाती है। इसी प्रकार ज्ञान भी वही श्रेष्ठ है जिससे दया का आविर्भाव होता है। ज्ञान और दया का सम्बन्ध वृक्ष और उसके फल के सम्बन्ध के समान है। ज्ञान वृक्ष है तो दया उसका फल है। ज्ञानरहित दया और दयारहित ज्ञान सार्थक नहीं है।

क्रियात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। व्यवहार में भी क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता है और अध्यात्म में भी। जब व्यवहार में भी सक्रिय ज्ञान उपयोगी होता है तो क्या धर्म के मार्ग में सक्रिय ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी? अतएव धर्ममार्ग में भी सक्रिय ज्ञान होना आवश्यक है।

आज धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान की कमी नजर आती है। तुम्हारे बालक श्रावक-कुल में जन्मे हैं और उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है। फिर भी अगर उन्होंने धार्मिक ज्ञान का उपार्जन न किया अर्थात् जीव-अजीव का भेद भी न जाना तो ज्ञान की कितनी त्रुटि

समझनी चाहिए? तुम प्रयत्न करो तो अपने बालकों के व्यावहारिक ज्ञान को ही आध्यात्मिक ज्ञान मे परिणत कर सकते हो। आत्मा का कल्याण केवल व्यावहारिक ज्ञान से नहीं हो सकता। आत्म-कल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव तुम अपने बालकों को अगर शान्ति देना चाहते हो तो उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान देना चाहिए। यह बात दूसरी है कि आज पहले के समान आध्यात्मिक ज्ञान न दिया जा सकता हो या उसकी आवश्यकता न समझी जाती हो, मगर समय के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान तो देना ही चाहिए। आत्मा अपना कल्याण आध्यात्मिक ज्ञान से ही कर सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्मा कल्याण साधता है, साधा है और साधेगा। अतः सक्रिय ज्ञान की आराधना करो। इसी मे कल्याण है। ज्ञानपचमी की आराधना शास्त्र को धूप देने से नहीं होती। ज्ञानोपार्जन करना और उपार्जित ज्ञान को सक्रिय रूप देना ही ज्ञानपचमी की सच्ची आराधना है। ज्ञान की आराधना द्वारा ज्ञानपचमी की आराधना करने में ही आत्मकल्याण है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। यह प्रकाश जितना अधिक प्रकाशित करोगे, आत्मा उतना ही अधिक प्रकाशित होगा।

धर्मदेशना का फल प्रकट करते हुए आगे कहा गया है—

जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

अर्थात्—धर्मदेशना देने से जीव को आगामी काल में प्राप्त होने वाला कल्याण प्राप्त होता है। अर्थात् धर्मदेशना से भविष्य में कल्याण होता है।

ऊपर के पाठ में 'भद्दत्ता' शब्द आया है। इस 'भद्दत्ता' के बदले 'भद्द' शब्द ही लिखा गया होता तो क्या हर्ज था? इस प्रश्न

का समाधान करने के लिए कहा गया है—व्याकरण के नियमानुसार यह भाववाची शब्द है। उसे भाषासौन्दर्य के लिए भाववाचक प्रत्यय लगा दिया गया है।

आने वाला काल आगामी काल कहलाता है। और जो आगामी काल है वह वर्त्तमान में आता है। आगामी काल की कभी समाप्ति नहीं होती। इस प्रकार भविष्यकाल आगामी काल कहा जाता है। धर्मदेशना देने से आगामी काल में आत्मा का कल्याण होता है।

जैसे काल का अन्त नहीं है वैसे ही आत्मा का भी अन्त नहीं है। यह बात जानते हुए भी दो दिन टिकने वाली चीज़ के लिए तो प्रयत्न करना और जिसका कभी अन्त नहीं, उस आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न करना कितनी गभीर भूल है ? कहा जा सकता है कि आत्मा के लिए हमें क्या करना चाहिए ? इसका समाधान यह है कि शास्त्रों में कहा है—'सव्वे जीवा सुहमिच्छंति।' अर्थात् सभी जीव सुख चाहते हैं, यह मानकर सब जीवों का कल्याण करो। कोई भी काम ऐसा न करो जिससे किसी जीव का अकल्याण हो।

संसार का प्रत्येक पदार्थ, जो एक प्रकार से कल्याणकारी माना जाता है, दूसरे प्रकार से अकल्याणकारी साबित होता है। मगर धर्मदेशना एक ऐसी वस्तु है जो एकान्तः कल्याणकारिणी है। अतएव सांसारिक पदार्थों के मोह में न पडते हुए धर्मदेशना को अपनाओ और जीवन में उतार कर आत्मा का कल्याण साधो।

धर्मदेशना का फल बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, उसमें 'अनवरत' शब्द आया है। अनवरत का अर्थ 'निरन्तर' है।

अतः यहाँ यह कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर कल्याणरूप कर्म का बंध होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किये हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं, फिर यहाँ निरन्तर शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव पुण्यानुबंधी कर्म बाँधता है और उसका ज्यों ही अन्त आता है त्यों ही दूसरे पुण्यानुबंधी कर्म का बंध हो जाता है। इस प्रकार धर्मदेशना से जीव निरन्तर भद्र कल्याणकारी कर्म का बंध करता है। इसी कारण यहाँ निरन्तर (अनवरत) शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे मुर्गी और उसके अंडे में से किसी को पहले नहीं कह सकते। दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् उसमें यह क्रम नहीं है कि पहले मुर्गी, फिर अंडा, या पहले अंडा फिर मुर्गी। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार धर्मदेशना से पुण्यानुबंधी कर्म का बंध होता रहता है, जिससे कि एक से दूसरे पुण्य का क्रम चलता रहता है। पुण्य से पुण्य होने में अन्तर नहीं पड़ता। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक और दूसरे दीपक से तीसरा प्रकट होता है, उसी प्रकार एक पुण्यानुबंधी से दूसरा और दूसरे पुण्यानुबंधी से तीसरा पुण्यानुबंधी कर्म का बंध होता ही रहता है। उसमें अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिए कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है।

यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है। वह यह कि धर्मदेशना से यदि निर्जरा होती है तो फिर शुभानुबंधी फल का मिलना क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि धर्मदेशना से निर्जरा भी होती है और शुभ कर्म का बंध भी होता है। अर्थात् जो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, उन कर्मों मे किसी प्रकार का बंध नहीं

होता, पर जो कर्म शेष रहते हैं, उनमें से शुभ कर्मों का ही बंध होता है। इस प्रकार धर्मदेशना का फल निर्जरा होने के साथ ही शुभ कर्मों का बंध होना भी है।

वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय से सूत्र की आराधना होती है। सूत्र की आराधना के विषय में अगले बोल में विचार किया जायगा।

चौबीसवाँ बोल ।

श्रुत की आराधना

पहले बतलाया जा चुका है कि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करने से श्रुत की आराधना होती है। यहाँ श्रुत की आराधना पर विचार किया जाता है।

मूलपाठ

प्रश्न—सुयस्स आराहणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—सुयस्स आराहणाए णं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—श्रुत की आराधना से अज्ञान दूर होता है और उससे जीव को संक्लेश नहीं होता ?

व्याख्यान

शास्त्र का सम्यक् प्रकार से सेवन करना श्रुत की आराधना है। वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, इस प्रकार पाँच तरह का स्वाध्याय करने से सूत्र की आराधना होती है और सूत्र की आराधना से अज्ञान नष्ट होता है। जिस वस्तु का पहले ज्ञान नहीं होता, सूत्र की आराधना से उसका ज्ञान हो जाता है। किसी बात का ज्ञान न होना उसका अज्ञान है। सूत्र की आराधना से इस प्रकार का अज्ञान दूर हो जाता है। अज्ञान का नाश हो जाता है, इसका प्रमाण यह है कि सूत्र की आराधना से विशिष्ट बोध उत्पन्न होता है। भगवान कहते हैं—इस प्रकार की सूत्र-आराधना से एक तो अज्ञान का नाश होता है और दूसरे सक्लेश उत्पन्न नहीं होता। तत्त्वज्ञान होने पर राग-द्वेष रूप संक्लेश टिक भी नहीं सकता।

यों तो संसार असार कहलाता है पर ज्ञानी जन इस असार कहे जाने वाले ससार में से ही सम्यक् सार खोज निकालते हैं। अगर संसार एकान्त रूप से असार होता और उसमें किंचित् भी सार न होता तो जीव मोक्ष कैसे प्राप्त कर पाते? सूत्र की आराधना करने से अज्ञान नष्ट होता है और अज्ञान के नाश से संसार में से सार निकाला जा सकता है। इस प्रकार तत्त्व का बोध होने से किसी प्रकार का सक्लेश नहीं होता और सक्लेश न होने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश होना, तत्त्व का बोध होना, संक्लेश पैदा न होना और वैराग्य की उत्पत्ति होना, यह सब सूत्र की आराधना का ही फल है। सूत्र की आराधना का फल बतलाते हुए एक सग्रहगाथा में कहा गया है—

जह जह सुयमवगाहइ अइसयरससंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी नव नव संवेगसद्धाए॥

अर्थात्—मुनि ज्यो ज्यों श्रुत में अवगाहन करता जाता है, त्यों-त्यों उस मुनि को संवेग-श्रद्धा से अपूर्व-अपूर्व आह्लाद प्राप्त होता है।

श्रुत की सूत्र से, अर्थ से सूत्रार्थ से ज्यों-ज्यों आराधना की जाती है त्यों- त्यों अपूर्व भावों की उत्पत्ति होती है। श्री भगवतीसूत्र का अनेक महात्माओं ने अनेक बार अध्ययन किया पर अन्त में उन्हे यही कहना पडा कि—'हे भगवती! मैं तुझमें ज्यों-ज्यों अवगाहन करता हूँ, त्यों-त्यो मुझे अपूर्व ही भाव मालुम होता है. इसलिए मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।'

श्रुत की आराधना करने से नवीन नवीन भाव किस प्रकार प्रकट होता है; यह बात यों समझो। मान लो, तुम किसी समुद्र के किनारे फिरने गये हो। समुद्र के किनारे ठंडी हवा बह रही है। तुम समुद्र के जितने नजदीक जाओगे, उतनी ही अधिक ठडी हवा मालूम होगी। अगर समुद्र में स्नान करने के लिए घुसोगे तो और भी अधिक ठड लगेगी। कदाचित् तुमने समुद्र में गहरा गोता लगाया तो वह गहरा मालूम होगा, अधिक ठंड भी मालूम होगी पर संभव है समुद्र की गहराई में से तुम्हे किसी वस्तु की प्राप्ति भी हो जाय। मोती तो गहरे पानी में डुबकी मारने से ही मिलते हैं। इसी प्रकार जो पुरुप सूत्र रूपी समुद्र के जितना सन्निकट जाएगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा। जो श्रुत समुद्र में डुबकी मारेगा उसे तो तत्त्व रूपी मोती भी अधिकाधिक प्राप्त होंगे।

तुमने दूसरे अनेक रसो का आस्वादन किया होगा, मगर एक बार शास्त्रों के रस को भी तो चख देखो! शास्त्र का रस कैसा

है ? शास्त्र का रस चखने के बाद तुम्हें संसार के सभी रस फीके जान पड़ेंगे। शास्त्र को ऊपर-ऊपर से मत देखो। अगर कोई पुरुष मुँह में मोती डालकर उसका मिठास चखना चाहे तो उसे क्या उचित कहा जायगा ? और चखने पर जिस मोती में मिठास मालूम हो वह सच्चा मोती कहा जा सकता है ? नहीं। इसी प्रकार सूत्र रूपी मोती को ऊपर-ऊपर से मत चखो। सूत्र सुनकर उसे अपने जीवन में उतारो तो तुम्हारा मानव-जीवन सार्थक हो जायगा। सूत्र की आराधना करने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। सूत्र की आराधना करना मानव-जीवन को सार्थक करने की जडी बूटी है। अतः सूत्र की आराधना करके जीवन सफल करोगे तो कल्याण होगा।

रागादि भाव के कारण आत्मा में किस प्रकार संक्लेश उत्पन्न होता है, यह बात सरल करके समझाता हूँ। जो पुरुष जिस वस्तु को अपनी समझता है, उसे उसके प्रति राग होता है। इस अवस्था में अगर उस वस्तु को कोई छीन ले या उसे हानि पहुँचाए तो ऐसा करने वाले के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। अगर किसी भी वस्तु को अपनी न मानी हो तो उसके प्रति राग भी न होगा और उसे छीनने या नष्ट करने वाले पर द्वेष भी न होगा। इस प्रकार राग-द्वेष न होने के कारण सक्लेश भी उत्पन्न न होगा। वस्तु में जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है तभी उसके कारण राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष होने से आत्मा को संक्लेश होना स्वाभाविक है। श्रुत की आराधना करने से वस्तु सम्बन्धी राग द्वेष मूलक मोह नष्ट हो जाता है और राग-द्वेष नष्ट हो जाने से आत्मा को संक्लेश नहीं होता, बल्कि वैराग्य पैदा होता है। इस प्रकार सूत्र की आराधना का महत्त्व बहुत अधिक है।

पच्चीसवाँ बोल ।

मानसिक एकाग्रता

शास्त्र का कथन है कि सूत्र की आराधना के लिए मन का एकाग्र होना आवश्यक है। जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक सूत्र की आराधना नही हो सकती। अतएव मन की एकाग्रता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है। मूलपाठ इस प्रकार है:—

मूलपाठ

प्रश्न—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! मन को एकाग्र करने से जीव को क्या लाभ होता?

उत्तर—मन को एकाग्र करने से जीव चित्त का निरोध करता है।

व्याख्यान

मन की एकाग्रता के विषय में विचार करने के लिए मन क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। मन दो प्रकार के हैं-(१) द्रव्य मन और (२) भाव मन। 'मन्यते अनेन, इति मनः' इस व्याख्यान के अनुसार जिसके द्वारा मनन किया जाय उसे मन कहते हैं। इसके सिवाय 'मननं मनः' अर्थात् मनन करना भी मन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने में जिन विशेष पुद्गलों का संचय करता है और जिन पुद्गलों के समूह से आत्मा में मनन करने की शक्ति आती है, उन पुद्गलों का समूह मन कहलाता है। द्रव्य मन से द्रव्य मनन होता है और भाव मन से भाव मनन होता है।

जो वस्तु देखी सुनी जाती है, उसके विषय में मन ही किसी प्रकार का विचार करता है। उदाहरणार्थ—आँख खंभे को देखती है, पर यदि मन न हो तो 'यह खंभा है' यह बात जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार वस्तु को देखने पर भी, अगर देखने के साथ मन न हो तो 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकता। अनेक बार हम अनेक वस्तुएँ देखते हैं, लेकिन उस देखने के साथ अगर मन नहीं होता तो वह वस्तुएँ ध्यान में नहीं आतीं—अर्थात् उनका ज्ञान नहीं होता। इस तरह जिसकी सहायता से वस्तु जानी जाय और जानी हुई वस्तु के विषय में कल्पना करके मनन किया जा सके, उसे मन कहते हैं।

द्रव्य मन और भाव मन संज्ञी जीव को ही होता है। असंज्ञी जीव के भी मन तो होता है, मगर उसके भाव मन ही होता है, द्रव्य मन नहीं। इस कारण असज्ञी जीव किसी वस्तु पर विचार नहीं कर सकते। अंधे के सामने दर्पण रख दिया जाय तो दर्पण में अंधे

का प्रतिविम्ब तो पडता है मगर अंधा उस प्रतिविम्ब को देख नही सकता, क्योंकि उसके पास देखने का साधन नहीं है। इसी प्रकार असञ्ज्ञी जीव को भाव मन तो होता है पर द्रव्य मन नही होता। इस कारण असंज्ञी जीव वस्तु सामने होने पर भी उसके सम्बन्ध मे कुछ विचार नहीं कर सकते। जब भाव मन के साथ द्रव्य मन होता है तभी वस्तु के विषय में विचार किया जा सकता है।

मन और चित्त पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् ने कहा है— मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

प्रश्न खड़ा होता है—मन को किस प्रकार वश में किया जाय और किस प्रकार एकाग्र रक्खा जाय? आँखें बद करके वश में की जा सकती हैं, नाक दबा कर वश मे किया जा सकता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी अकुश द्वारा वश मे किया जा सकता है। मगर मन किस प्रकार वश मे किया जाय? यह एक विकट प्रश्न है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही मनुष्यो के बंध और मोक्ष का कारण है।

मन का संकल्प विकल्प कैसा होता है, यह बात सभी जानते है। मनुष्य हो या पशु, जिसके मन है, उनका मन संकल्प-विकल्प करता ही रहता है। अच्छे या बुरे काम मन के सकल्प-विकल्प से ही होते हैं। बिल्ली उन्हीं दांतों से अपने बच्चों को दबाती है और उन्हीं से चूहे को दबाती है। दांत तो वही हैं मगर मन के संकल्प विकल्प मे अन्तर पड़ जाने से वस्तु में भी अन्तर पड़ जाता है।

मन में यह जो अन्तर रहता है, उसका कारण मन की चंचलता है। जब मन की चंचलता दूर हो जाय और मन मे किसी

प्रकार का भेदभाव न रहे तब समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है। जब तक मन में भेदभाव बना रहे तब तक मन वश में नहीं हुआ है।

कहा जा सकता है कि चित्त की चंचलता दूर करना और मन में तनिक भी भेदभाव न आने देना तो बहुत ही कठिन कार्य है। सब साधु भी इतना कठिन कार्य नहीं कर सकते तो गृहस्थ मन को कैसे वश कर सकते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि इस सम्बन्ध में साधु या गृहस्थ का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो कोई भी मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को जीवन में उतारता है, वही मन को वश कर सकता है। मन को वश करने के अभ्यास और वैराग्य यही दो उपाय हैं। मन को वश में लाने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार बहुत लम्बा है। योगक्रिया का समावेश इसी अभ्यास मे होता है। इस सम्बन्ध मे टीकाकार कहते हैं कि मन को अप्रशस्त में जाने से रोक कर प्रशस्त में पिरो देने से धीरे-धीरे मन एकाग्र हो जायगा। अर्थात् एक ओर से तो मन को अप्रशस्त में जाने से रोको और दूसरी ओर उसे परमात्मा के ध्यान में पिरोते जाओ तो मन वश में किया जा सकेगा और उसकी एकाग्रता भी साधी जा सकेगी।

मन को वश मे करने के लिए वैराग्य भी एक उपाय है। इन्द्रियों का समूह बलवान् होने के कारण मन को अपनी ओर खींचता रहता है। अतः पदार्थों के प्रति विरक्तिभाव रखना उचित है। विरक्ति होने से इन्द्रियाँ उन पदार्थों की ओर नहीं खिंचेगी और तब मन भी उनकी ओर नहीं जाएगा और स्थिर रहेगा। वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विचार करके उसके प्रति वैराग्य रखना चाहिए।

वैराग्य धारण करने से मन भी स्थिर रहेगा। वस्तु के असली स्वरूप का विचार न करने के कारण ही वस्तु के प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो वैराग्य पैदा हुए बिना नहीं रह सकता और मन भी वश में किया जा सकता है। इस प्रकार मन को वश मे करने का और एकाग्र करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य से ही मन पर काबू किया जा सकता है।

लोगो को रुपया के प्रति बहुत ममता है। मगर रुपया क्या है, किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और रुपया के प्रचलन से समाज और देश की आन्तरिक स्थिति को कितनी अधिक हानि पहुँची है, इन बातो पर पूरा विचार किया जाय तो रुपया के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रहेगा। सिक्का का जितना अधिक प्रचार हुआ, उतने ही अधिक अनर्थ बढ़े हैं। सिक्के के लिए ही पशुवध किया जाता है। फूक्का का घातक प्रयोग करके गाय के आंचल मे से दूध काढने का पापपूर्ण कार्य भी रुपया के लिए ही किया जाता है। इस प्रकार रुपया से होन वाले अनर्थों का विचार किया जाय तो रुपया के प्रति वैराग्य होगा ही।

बडे बड़े शहरो मे कुलांगनाएँ वेश्या बन कर अपना शरीर दूसरो को किसलिए सौंपती हैं? केवल पैसे के लिए। उन्हें पैसे पर ममता न होती तो शायद देव भी उन्हे विचलित न कर सकते। पैसा ही उनका सतीत्व नष्ट कराता है। भाई भाई और पिता-पुत्र के बीच पैसा के कारण ही तकरार होती है। राजा लोग भी प्रजा के कल्याण के लिए राज्य नहीं चलाते, वरन् पैसे के लिए ही राज्य चलाते हैं।

इस प्रकार पैसे के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से उसके प्रति वैराग्य होगा ही। अनर्थ उत्पन्न करने वाला और राग-द्वेष की वृद्धि करने वाला कनक और कामिनी ही है। कनक और कामिनी के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से गृहस्थ को भी वैराग्य हो सकता है। इस तरह मन को वश करने के विषय में साधु और गृहस्थ का कोई भेदभाव बाधक नहीं हो सकता। कोई भी क्यों न हो, अभ्यास और वैराग्य द्वारा अगर वह मन को वश करना चाहता है तो अवश्य कर सकता है।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। चित्त का निरोध तो मन की एकाग्रता का परम्परा फल है। मन की एकाग्रता का साक्षात् फल यह है कि एकाग्र मन वाला जो कुछ भी बोलता है, सत्य ही बोलता है और जो मनोरथ करता है वह पूर्ण ही होता है। मानसिक एकाग्रता से ही अमोघ भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती है। अतः मन को एकाग्र करो। मन को एकाग्र करने के लिए मैं बारम्बार यही कहता हूँ कि परमात्मा का भजन करो। परमात्मा के भजन से मन एकाग्र होगा। दूसरे कामों से मन हटा कर परमात्मा के भजन में ही मन पिरो दो। परमात्मा के भजन का सहारा लेकर मन को एकाग्र करने से चित्त की चंचलता दूर होगी। इसलिए परमात्मा का भजन करने में देरी मत करो। कहा भी है—

दम पर दम हरि भज, नहीं भरोसा दम का,
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का।
दम आवे न आवे इसको आश मत कर तू,

एक नाम सांई का जप हिरदे में धर तू ॥
नर ! इसी नाम से तर जा भवसागर तू,
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू ॥

श्वास का विश्वास नहीं। श्वास तो वायु है। कदाचित् आवे, कदाचित् न भी आवे। इसका क्या भरोसा ! इसलिए मुख में से श्वास निकलने के पहले ही परमात्मा का भजन करो। इस प्रकार परमात्मा का भजन करने से मन एकाग्र होगा।

आत्मा एक बड़ी भूल कर रहा है। वह यह कि तुच्छ चीजों में मन का प्रयोग करके आत्मा, परमात्मा को भूल रहा है। वह इतना भी तो नहीं सोचता कि मेरा मन परमात्मा में एकाग्र हो जायगा तो उस दशा में मुझे तुच्छ वस्तुओं की क्या कमी रह जायगी। इस प्रकार विचार न करके आत्मा अपने मन को इधर उधर दौड़ाया करता है। यही मन की चंचलता है। इस चंचलता को दूर करने के लिए ही शास्त्रकार मन की एकाग्रता की आवश्यकता बतलाते हैं। मन को परमात्मा में एकाग्र किया जाय तो वह अशुभ से हट कर शुभ में प्रवृत्त हो जाय। इधर-उधर भटकना मन का स्वभाव है। मगर सावधानी यह रखनी चाहिए कि वह खराब मार्ग में न दौड़े। अगर मन सन्मार्ग में दौड़े तो वह भी आत्मा को यथा-स्थान पहुँचा सकता है।

मन को परमात्मा के साथ जोड़ने से कठिन से कठिन संयोग भी सरल हो जाते हैं। लोग कहते हैं—यह पंचम काल बड़ा कठिन है। मगर जो लोग वास्तव में ही इस काल को कठिन मानते

है, वे क्या अपना मन परमात्मा में जोडने मे पल भर भी विलम्ब कर सकते हैं ? भूख लगने पर भोजन और प्यास लगने पर पानी याद आता है, इसी प्रकार इस संकट काल मे परमात्मा का स्मरण होना ही चाहिए। ऐसे विकट समय मे परमात्मा का स्मरण किया जाय और मन को परमात्मा में एकाग्र कर दिया जाय तो फिर किसी प्रकार संकट रह ही न जाय !

छब्बीसवाँ बोल।

संयम

जिनका मन एकाग्र होता है उन्हीं का संयम शोभायमान होता है और जिनमें संयम है उन्ही के मन की एकाग्रता सार्थक होती है। अतः सयम के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! संयम से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—संयम से अनाहृतपन (अनाश्रव-आते हुए कर्मों का निरोध) प्राप्त होता है।

व्याख्यान

संयम के विषय में भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि संयम क्या है ?

शास्त्र में संयम के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। उस सब का यहाँ विवेचन किया जाय तो बहुत अधिक विस्तार होगा। अतएव सयम के विषय में यहाँ संक्षेप में ही विवेचन किया जायगा।

आजकल संयम शब्द पारिभाषिक बन गया है। मगर विचार करने से मालूम होगा कि सयम का अर्थ बहुत विस्तृत है। शास्त्र मे सयम के सत्तरह भेद बतलाये गये है। इन भेदों में संयम के सभी अर्थों का समावेश हो जाता है। सयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये हैं। पाँच आस्रवों को रोकना, पाँच इन्द्रियों को जीतना, चार कषायों का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते हैं— (१) पृथ्वी-काय संयम (२) अप्काय सयम (३) वायुकाय सयम (४) तेज.काय सयम (५) वनस्पतिकाय सयम (६) द्वीन्द्रियकाय सयम (७) त्रीन्द्रिय-काय सयम (८) चतुरिन्द्रियकाय सयम (९) पचेन्द्रियकाय सयम (१०) अजीवकाय सयम (११) प्रेक्षा सयम (१२) उपेक्षा संयम (१३) प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना संयम (१५) मनः सयम (१६) वचन सयम (१७) काय सयम। इस तरह दो प्रकार से सयम के सत्तरह भेद हैं। सयम का विस्तारपूर्वक विचार करने मे सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते हैं।

जीवन भर के लिए पाँच आस्रवों से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्त होना सयम स्वीकार करना कहलाता है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना, मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, संसार की समस्त स्त्रियों को

माता-बहिन के समान समझना और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पाँच आस्रवों से निवृत्त होना और पाँच महाव्रतों का पालन करना और पाँच इन्द्रियो का दमन करना। पाँच इन्द्रियो को दमन करने का अर्थ यह नही है कि आँख बन्द कर लेना या कान में शब्द ही न पड़ने देना। ऐसा करना इन्द्रियो का निरोध नही है। बल्कि इन्द्रियो को विषयो की ओर जाने ही न देना इन्द्रियनिरोध कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाय तो अनेक अनर्थों से बचा जा सकता है।

जब तुम्हारे कान में कोई शब्द पडता है तो तुम्हें सोचना चाहिए—मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, वगैरह प्राप्त करने का साधन है। अतएव मेरे कान मे जो शब्द पड़े हैं वे मेरा अज्ञान बढ़ाने वाले न हो जाएँ, यह बात मुझे खयाल मे रखनी चाहिए। जब तुम्हारे कान में कटुक शब्द टकराते हैं तब तुम्हारा हृदय काँप उठता है। मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिए कि यह तो मेरे धर्म की कसौटी हैं। यह कटु शब्द शिक्षा देते हैं कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी। अतएव कटुक शब्दो को धर्म पर स्थिर करने में सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हे लम्पट या ठग कहे तो तुम्हें सोचना चाहिए कि मै एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह शब्द सुनने को मिलते? और उस अवस्था मे कोई मुझे यह शब्द कहता? कदाचित् कोई कहता भी तो मैं उन्हे समझ ही न सकता। अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्त्तव्य होता है? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है। मुझे सोचना चाहिए कि क्या मुझमें ये दुर्गुण हैं? अगर मुझमें

यह दुर्गुण है तो मुझे दूर कर देना चाहिए। वह बेचारा गलत नहीं कह रहा है। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने में दिखाई न दें तो सोचना चाहिए—हे आत्मा! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दों को भी नहीं सहन कर सकता? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमें नहीं है! यह कायरता तुझे शोभा नहीं देती। जो व्यक्ति तुझे अपशब्द कहता है उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दों को खराब मानता है। इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक है।' इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो स्थिर रहता है, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानी जन विचार करते हैं—इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है। अपने सुन्दर रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का संचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्-गल तेरे दास बन जाएँगे।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है। मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालूँ। फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पड़ती है तो मुझे मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज है। मस्तिष्क से यह महल बना है, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड़ जाय तो कितनी बड़ी खराबी होगी? तो फिर सुन्दर महल देखकर मैं अपना दिमाग क्यों बिगाड़ूँ? अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर संयम का पालन किया तो मेरे लिए देवों के महल भी तुच्छ बन जाएँगे।

महाभारत में व्यास की झोंपड़ी और युधिष्ठिर के महल की तुलना की गई है और युधिष्ठिर के महल से व्यास की झोंपड़ी

अधिक अच्छी बतलाई गई है। इसका कारण यह है कि जहाँ निवास करके आत्मा अपना कल्याण-साधन कर सके वही स्थान ऊँचा है और जहाँ रहने से आत्मा का अकल्याण हो वह स्थान नीचा है। जहाँ रहने से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊँचा है और जहाँ रहने से भावना नीची हो जाय वह स्थान नीचा है। अगर तुम इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायगा।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापों से बचे हुए हैं। जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है वह भी पहले देवलोक से नीचे नहीं जाता। मगर एक-एक पाई के लिए भी झूठ बोलना कोई श्रावकपन नहीं है। क्या मैं तुमसे यह आशा रक्खूं कि तुम असत्य भाषण न करोगे? अगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नहीं चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य के बिना काम नही चलना होता तो तीर्थङ्कर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यो किया होता? क्या वे इतना भी नहीं समझते थे? वास्तव मे यह समझ ही भ्रमपूर्ण है। इस भूल को भूल मान कर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो। सत्य की आराधना करने में कदाचित् कोई कष्ट आ पड़ें तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहो मगर सत्य पर अटल रहो। क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्ट सहने मे आनन्द नहीं माना था? फिर आज सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्टों से क्यों घबराते हो? आज लोग व्यवहार साधने में ही लगे रहते हैं और समझ बैठे है कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नहो सकता। मगर यह मानना गभीर भूल है। दरअसल तो सत्य के आचरण से ही व्यवहार सरल बनता है। असत्य के आचरण से व्यवहार में वक्रता आ जाती है। भगवान् ने सत्य का महत्व बतलाते हुए यहाँ तक कहा है कि 'त सच्चं खु

भयवं ।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है। ऐसी दशा में सत्य की उपेक्षा करना कहाँ तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकता है।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियों को और मन को वश मे करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए। निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नहीं है। केवली भगवान भी इसलिए परिषह सहन करते है कि हमें देखकर दूसरे लोग भी परिषह सहने की सहिष्णुता सीखें। इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करना चाहिए' ऐसा प्रकट करते हैं। अतएव केवल निश्चय को ही पकड़ कर नहीं बैठा रहना चाहिए।

इन्द्रियों और मन को वश मे करने के साथ चार कषायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा काय के योग को भी रोकना चाहिए। यह सत्तरह प्रकार का सयम है।

इस तरह सत्तरह तरह के संयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है। जिसका मन एकाग्र नहीं रहता वह इस प्रकार के उत्कृष्ट सयम का पालन नहीं कर सकता। शास्त्र मे कहा है-

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिकसूत्र

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थों की ओर दौड़ता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नहीं कह सकते, वह भोगी ही

कहा जायगा। इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नहीं जाने देता वह उन पदार्थों का भोगी नहीं वरन् त्यागी ही कहलाता है।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर संयम है या नही ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नहीं ? आज बाहर के फैशन से, बाहर के भपके से और दूसरों की नकल करने से तुम्हारे संयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फैशन से बचो और संयममय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरो का कल्याण होगा।

संयम के फल के विषय में भगवान् ने कहा है—संयम से जीव मे अनाहतपन आता है। साधारणतया संयम का फल आस्रव-रहित होना माना जाता है। पर यह साक्षात् अर्थ नहीं है। सयम के साक्षात् अर्थ के विषय में टीकाकार कहते हैं—संयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिससे कर्म की विद्यमानता ही नहीं रहती। संयम से आश्रवरहित अवस्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है। सूत्रसिद्धान्त बीज रूप में ही कोई बात कहते हैं। अतः उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है।

सयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया है। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त होती है। अगर सयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय में जुदा प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने में एक वस्तु ही एक बार आती है। तप और संयम सम्बन्धी प्रश्न अलग-अलग हैं परन्तु दोनों का अर्थ

तो एक ही है। चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि चय का अर्थ 'कर्मसंचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना है। अर्थात् कर्मसंचय को रिक्त (खाली) करना चारित्र है। चारित्र कहो या संयम कहो, एक ही बात है। अतः चारित्र का फल ही संयम का फल है। चारित्र का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना है और संयम का भी यही फल है।

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत—आगे आने वाला—होता है। कोई ऋण पुराना होता है और कोई आगे किया जाने वाला होता है। पुराने कर्मों की तो सीमा होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं। इस कथन का एक उद्देश्य है। जो लोग कहते हैं कि संयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग क्यों बतलाया गया है? यदि तप और संयम का फल एक ही है तो दोनों का अलग-अलग, प्रश्न रूप में वर्णन क्यों किया गया है? अगर दोनों का वर्णन अलग-अलग है तो तप और संयम में क्या अन्तर है? इन प्रश्नों का, मेरी समझ में, यह उत्तर दिया जा सकता है कि संयम आगे आने वाले कर्मों को रोकता है और तप आगत अर्थात् संचित कर्मों को नष्ट करता है। संचित कर्मों की तो सीमा होती है पर अनागत कर्मों की सीमा नहीं होती है। संयम नवीन कर्म नहीं बँधने देता और पुराने कर्मों का नाश करता है। संयम असीम कर्मों को रोकता है, अतएव संयम का कार्य महान् है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है। जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊँचा माना जाता है।

इस कथन से यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का खयाल नहीं करता और भविष्य का ध्यान नहीं रखता, सिर्फ वर्त्तमान के सुख मे ही डूबा रहता है वह चक्कर में पड़ जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे। इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध में लड़ने के लिए जाते थे और अपने प्राणों की भी बलि चढ़ा देते थे, क्या उन्हें प्राण प्यारे नहीं थे ? प्राण तो उन्हें भी प्यारे थे मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाय, इसी दृष्टि से वे राजपाट छोड़कर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणों को तुच्छ समझते थे।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सामने रखकर संयम के विषय में विचार करो। जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणों की ममता त्याग कर लड़ने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीन काल के जो लोग राजपाट त्याग कर संयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे। उनकी संतान सोचती थी—हमारे पूर्वजों ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यों तृष्णा में ही फँसे रहे ? प्राचीन काल के राजा या तो संयम पालन करते-करते मृत्यु से भेंटते थे या युद्ध करते-करते। वे घर में छटपटाते हुए नहीं मरते थे। आज कल के लोग तो घर में पड़े-पडे, हाय हाय करते हुए मरण के शिकार बनते हैं। ऐसे कायर लोग अपना अकल्याण तो करते ही हैं, साथ ही दूसरों का भी अकल्याण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं–हे आत्मा! तू भूत-भविष्य का विचार करके संयम को

स्वीकार कर। संयम आते हुए कर्मों को रोकता है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराता है।

कोई कह सकता है कि क्या हमें संयम स्वीकार कर लेना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण संयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा संसार के प्रति जो ममता है उसे ही कम करो! इतना करोगे तो भी बहुत है। आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल कर रहे हैं। उदाहरणार्थ—धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। मगर हुआ यह कि लोगों ने इस साधना को ही साध्य समझ लिया है और वह धनोपार्जन करने में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं हैं, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नहीं? सब से पहले यही सोचो कि तुम कौन हो? यह विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, हाड़ या मांस नहीं हो। यह सब धातुएँ तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अतः धन हाड़-मांस के लिए नहीं बरन आत्मा के लिए है। यह बात भलीभांति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नहीं बनेगा अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मानकर धनोपार्जन में ही अपना जीवन समाप्त नहीं कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते हैं कि धन आपके लिए है, आप धन के लिए नहीं हैं तो मैं पूछता हूँ कि आप धन के लिए पाप तो नहीं

करते ? असत्य भाषण, विश्वासघात और पिता-पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होते हैं ? धन के लिए ही सब होता है। धन से संसार में क्लेश-कलह होना इस बात का प्रमाण है कि लोगों ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगो की इस भूल के कारण ही संसार मे दुःख व्याप रहा है। धन को साध्य मानने के बदले साधन माना जाय और लोकहित में उसका सद्व्यय किया जाय तो कहा जा सकता है कि धन का सदुपयोग हुआ है। इसके बदले आप साधनसम्पन्न होने पर भी यदि किसी वस्त्रविहीन को ठंड से ठिठुरता देखकर भी और भूख-प्यास से कष्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता नहीं करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है। धन का सदुपयोग करने में हृदय की उदारता होना आवश्यक है। हृदय की उदारता के अभाव मे धन का सद्व्यय नहीं हो सकता। धन तो व्यवहार का साधन मात्र है। वह साध्य नहीं है। यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। धन के प्रति जो मोह है उसका त्याग करने में ही कल्याण है। 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् धन प्रमादी पुरुष की रक्षा नहीं कर सकता। शास्त्र के इस कथन को भलीभाँति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नहीं समझेगा। वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नहीं रक्खेगा। धन के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष ही संयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

धन की भाँति शरीर को भी साधन ही समझना चाहिए। शरीर को आप अपना मानते हैं, मगर क्या हमेशा के लिए यह आपका है ? अगर नहीं, तो फिर यह आपका कैसे हुआ ? श्री-भगवतीसूत्र में कहा है—कर्मों का बंध न अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही होता है। अगर अकेले शरीर से कर्म बंध

होता तो उसका फल आत्मा क्यों भोगता ? अगर अकेले आत्मा से बंध होता तो शरीर को फल क्यों भोगना पड़ता ? आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं और दूसरी दृष्टि से अभिन्न भी हैं। अतएव कर्म दोनों के द्वारा कृत है। ऐसी स्थिति में शरीर को साधन समझ कर उसके द्वारा आत्मा का कल्याण करना चाहिए। जो शरीर को साधन समझेगा वही संयम स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा। जिस वस्तु के प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु का संयम करना कहलाता है। अतः बाह्य वस्तुओं के प्रति जितने परिमाण में ममता त्यागोगे, उतने ही परिमाण में आत्मा का कल्याण साध सकोगे।

भगवान ने संयम का फल निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति बतलाया है। कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही हाथ में है। संयम किसी भी प्रकार दुःखप्रद नहीं वरन् आनन्दप्रद है और परलोक में भी आनन्ददायक है।

सत्ताईसवाँ बोल

तप

चारित्र अर्थात् संयम के विषय में विवेचन किया जा चुका। संयम से अनागत कर्मों का निरोध होता है—आगे आने वाले कर्म रुकते हैं। मगर जो कर्म आ चुके हैं, उनका क्षय करने के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है—पूर्व कर्मों को नष्ट करने का साधन तप है।

लोगों को भावी रोग की इतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी वर्त्तमान रोग की होती है। भावी रोग तो पथ्य आहार-विहार से भी अटक सकता है परन्तु वर्त्तमान रोग का निवारण करने के लिए औषध का सेवन करना पड़ता है। कर्मरूप भावी रोग को रोकने के लिए संयम की आवश्यकता है और वर्त्तमान कर्म-रोग को अटकाने के लिए तप की। कर्म रूपी भावी रोग के निवारण के लिए संयम पथ्य के समान है। जो रोग पथ्य का ध्यान नहीं रखता और भावी रोग का उपाय नहीं करता उसका उपचार डाक्टर नहीं कर सकता।

कल्पना कीजिए—डाक्टर रोगी को अमुक चीज़ न खाने के लिए कहता है, मगर प्रत्युत्तर में रोगी कहता है कि उसे खाये विना मेरा चल ही नहीं सकता। अब बतलाइए, ऐसे रोगी का उपचार डाक्टर क्या खाक करेगा ?

इसी प्रकार कर्म रूपी रोग को मिटाने के लिए जो व्यक्ति संयम रूपी पथ्य द्वारा, आते हुए कर्मों को नहीं रोकता बल्कि आस्रव में ही पड़ा रहना चाहता है, उस व्यक्ति के लिए वर्त्तमान कर्मों को नष्ट करने की दवा बतलाना व्यर्थ ही है। हाँ, जो भद्र पुरुष संयम रूपी पथ्य का पालन करता है और इस प्रकार आते कर्मों को अटकाता है, उसके लिए शास्त्रकारों ने सचित कर्मों को नष्ट करने की तप रूपी दवा बतलाई है।

संयम स्वीकार करने वालों को संचित कर्मों को नाश करने के लिए तप करना आवश्यक है। अतएव अब तप के विषय में प्रश्न किया गया है:—

मूलपाठ

प्रश्न—तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—तवेणं जीवे ! वोदाणं जणयइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! तप करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—तप करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व कर्मों का क्षय होता है।

व्याख्यान

तप के फल के विषय मे विचार करने से पहले तप क्या है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। तप शब्द 'तप् संतापने' धातु से बना है। जो तपाता है उसे तप कहते है। यह तप शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। मगर कोरे व्युत्पत्ति-अर्थ को जान लेने से वस्तु समझ मे नहीं आ सकती। वास्तविकता समझने के लिए प्रवृत्ति निमित्त को भी समझना चाहिए। 'जो तपाता है वह तप है' इस अर्थ के अनुसार तो अग्नि भी तप कहलाती है, क्योंकि वह भी तपाती है। अतएव यहाँ देखना है कि तप का प्रवृत्तिनिमत्त क्या है? प्रवृत्तिनिमित्त के लिए शास्त्र में कहा है—कर्मों का क्षय करने के लिए आत्मा को तपाना तप है। कर्मों के क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक कार्य के लिए किये जाने वाले तप की गणना इस तप मे नहीं हो सकती। यहाँ सिर्फ उसी तप से अभिप्राय है जो कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है।

कर्मों को भस्म करने के लिए आत्मा को तपाना तप का वास्तविक अर्थ है, पर समुच्चय रूप से इस प्रकार कह देने पर भी तप का अर्थ समझ मे नहीं आ सकता। इस कारण शास्त्रकारों ने तप के छह आन्तरिक भेद और छह बाह्य भेद किये हैं। कुल बारह प्रकार का तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग, यह तप के आभ्यन्तर छह भेद हैं तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, यह छह बाह्य तप के भेद हैं।

आज तप के अर्थ में प्रायः अनशन ही समझा जाता है और अनशन तप ही बड़ा तप समझा जाता है। शास्त्रकारों ने भी

से अधिक न खाया जाय। अधिक न खाया जाय। अधिक न खाने से अर्थात् कम खाने से ऊनोदरी तप भी हो जाता है और शरीर भी स्वस्थ रहता है।

तीसरा तप वृत्तिसंक्षेप है। यह तप प्रधानतः साधुओं के लिए है, मगर श्रावक यह न सोचे कि यह हमारे लिए नहीं है। साधुओं की वृत्ति भिक्षा है, श्रावकों की वृत्ति भिक्षा नहीं है। जो श्रावक पडिमाधारी या संसारत्यागी नहीं है, वह भिक्षा नहीं माँग सकता। इसी प्रकार साधुओं के लिए भी कहा गया है कि अगर तुम भलीभाँति संयम का पालन कर सकते हो तो तुम्हारी भिक्षावृत्ति है, अन्यथा पौरुषघ्नी भिक्षा है। जिससे संयम का पालन नहीं होता वह याचना भी नहीं कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले को संकट का सामना नहीं करना पड़ता। दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष को अनायास ही कहीं न कहीं से सहायता मिल जाती है।

नेपोलियन बोना पार्ट के विषय में सुना जाता है कि उसकी माता ने उससे कहा—अमुक कार्य के लिए मुझे इतने धन की आवश्यकता है। नैपोलियन अपनी माता का बहुत आदर करता था मगर उसके पास माता को संतुष्ट करने योग्य धन नहीं था। उसने सोचा—माता की आज्ञा पालन करने की प्रतिज्ञा मैं कर चुका हूँ और इतना धन मेरे पास नहीं है! ऐसी स्थिति में प्राण त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार सकल्प करके वह मरने के लिए रवाना हुआ। रास्ते मे उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। उसने नैपोलियन को एक थैली देकर कहा—'जरा इस थैली को पकड़े रहिए, मै पेशाब

रखके अभी आता हूँ।' नेपोलियन ने सोचा—'चलो, मरना तो है ही। मरने से पहले इसका भी कुछ काम कर दूँ।' यों सोचकर नेपोलियन ने थैली अपने हाथ में ले ली। वह थैली लिये उस आदमी की प्रतीक्षा करता रहा, मगर थैली वाला न जाने कहाँ गायब हो गया। वह वापिस लौट कर नहीं आया। नेपोलियन ने थैली खोली और देखा तो उसमें उतना ही धन था जितना उसकी माता ने उससे माँगा था।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि नेपोलियन को वह धन कहाँ से मिला? विचार करने से यही विदित होता है कि प्रतिज्ञा के प्रताप से ही वह धन नेपोलियन को प्राप्त हो सका।

ऐसी ही एक बात उदयपुर के महाराणा के विषय में सुनी जाती है। राणा जंगल में रहते थे। उस समय बादशाह फकीर बन-कर राणा के अतिथि-सत्कार-प्रेम की परीक्षा लेने आया। उसने राणा के पास पहुँच कर कहा—'मुझे चांदी की थाली में, मेवा की खिचड़ी खाने के लिए दीजिए।' राणा की प्रतिज्ञा थी कि वह अपने पास आये अतिथि को निराश होकर नहीं जाने देता था। मगर जिस समय बादशाह पहुँचा, उस समय राणा के पास मुट्ठी भर अन्न का भी ठिकाना नहीं था। ऐसी स्थिति में वह चांदी के थाल में मेवा की खिचड़ी कहाँ से खिलाते? राणा ने बादशाह को पहचान लिया। मगर राणा ने विचार किया—'यह फकीर बनकर आया है और मेरा मेहमान बना है। इसका सत्कार करना मेरा फर्ज है। लेकिन सत्कार किस प्रकार किया जाय? आज मेरी प्रतिज्ञा भंग होने जा रही है। प्रतिज्ञा भंग होने की अपेक्षा तो मर जाना कहीं बेहतर है।'

इस प्रकार सोच-विचार कर राणा ने फकीर से कहा—'आइए, बैठिये।' फकीर को बिठला कर आप पीछे के मार्ग से मर जाने के लिए जंगल की ओर चल दिया। रास्ते मे राणा को एक मनुष्य मिला। वह बैल पर माल लादे जा रहा था। उसने कहा—'भाई, मुझे शौच जाना है। थोडी देर इस बैल को पकड रक्खो न? मैं अभी लौट आता हूँ।' राणा ने सोचा—मरना तो है ही, इससे पहले इसका काम कर दिया जाय तो अच्छा ही है। इस प्रकार विचार कर राणा ने बैल को पकड़ लिया। वह मनुष्य बैल को पकड़ा कर चला गया और ऐसा गया कि बहुत देर तक भी वापिस नही लौटा। राणा खडे-खड़े निराश हो गये। सोचा—देखूं इस पर क्या माल लदा हुआ है? राणा ने देखा तो उन्हे विस्मय हुआ। उस पर चांदी की थालियाँ और मेवा लदा था। राणा ने वह सब सामान लाकर फकीर का अतिथिसत्कार किया।

तात्पर्य यह है कि जो दृढ़प्रतिज्ञ होता है उसे किसी न किसी प्रकार से अनायास सहायता मिल जाती है। साधुओं को भी अपनी सयम पालने की प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए। संयम पालन के साथ ही भिक्षावृत्ति स्वीकार करना उचित है।

श्रावको को भी वृत्तिसंक्षेप तप का पालन करना चाहिए। उन्हे अपनी वृत्ति मे अधर्म न पैठने देने का सतत ध्यान रखना चाहिए और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए। ऐसा करने से कार्य भी सफल होगा और सकटो से भी बचाव होगा। इसी प्रकार अन्य तपों का स्वरूप शास्त्र के अनुसार समझ कर यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तपों में अनशन तप प्रधान है। चाहे अनशन तप हो, चाहे ऊनोदरी हो, वह कर्मों को नष्ट करने के लिए ही होना चाहिए। आजकल अनशन रोग नष्ट करने का भी एक साधन माना जाता है। इस प्रकार अनशन भले ही व्यावहारिक तप कहलाएगा पर ऐसे अनशन को गणना तप में नहीं हो सकती। वही अनशन तप में गिना जा सकता है जो कर्म नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया हो।

पहले बतलाया गया था कि ऊनोदरी तप किया जाय तो अनशन करने की आवश्यकता ही न रहे। इसका अर्थ यह नहीं कि ऊनोदरी करने वाले को अनशन तप करना ही नहीं चाहिए। यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई थी कि रोग नष्ट करने के लिए जो ऊनोदरी करता है उसे अनशन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से तो उनोदरी तप करने वाला अगर अनशन तप करता है तो और भी अच्छी बात है।

जिस तप से मन, वचन और काय की शुद्धि होती है, वही तप श्रेष्ठ है। मन, वचन और काय की शुद्धि करने वाला तप ही वास्तविक तप है। कितनेक तपस्वी अधिक क्रोधी होते हैं। मगर जो प्रचड क्रोध करता है, कहा जा सकता है कि उसमें अभी तक तप नहीं है। तप में क्रोध को स्थान नहीं हो सकता। जिस तप में क्रोध को स्थान नहीं है, वही तप वास्तविक है।

जैनशास्त्र अनशन तप को महत्वपूर्ण स्थान देता है। महाभारत में भी अनशन तप की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। कहा है—

तपो न अनशनात् परम्।

अर्थात्—अनशन से श्रेष्ठ और कोई तप नहीं है।

तप आत्मा को सब पापों से अलग रखता है। जो तप करता है वह अहिंसा का भी पालन करता है, सत्य का भी पालन करता है, अदत्तादानत्याग का भी पालन करता है और वही ब्रह्मचर्य आदि का भी पालन करता है। ब्रह्मचर्य पालने के लिए मानसिक वृत्तियों को वश करने की आवश्यकता है। मन की वृत्तियाँ अन्य उपायों से कदाचित् वश में न भी हों, परन्तु अनशन तप से अवश्य वश में हो जाती हैं। गीता में कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

अर्थात्—अनशन करने से विषय की वासना ही नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर अब्रह्मचर्य या अन्य पापों की भावना ही किस प्रकार टिकी रह सकती है।

तप करने वाले की वाणी पवित्र और प्रिय होती है। और जो प्रिय, पथ्य और सत्य बोलता है उसी का तप वास्तव में तप है। असत्य या कटुक वाणी कहने का तपस्वी को अधिकार नहीं है। तपस्वी सत्य और प्रिय वाणी ही बोल सकता है। तपस्वी को भूल कर भी ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे दूसरों को दुःख या भय उत्पन्न हो। तपस्वी तो भयभीत को भी अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा निर्भय बना देता है। जब संयति राजा भयभीत हो गया था तब गर्दभालि मुनि ने उसे आश्वासन देते हुए कहा था—'पृथ्वीपति! तू निर्भय हो। भय मत कर।' वह मुनि तपोधन थे, ऐसा शास्त्र का उल्लेख है। तपोधन दूसरों को निर्भय बनाता है

और अपनी वाणी द्वारा किसी को भी भय नहीं पहुँचाता।

भयभीत व्यक्ति को निर्भय बनाते समय तपोधन मुनि भयभीत व्यक्ति के अपराधों की ओर नहीं देखते। उनका दृष्टिकोण भयभीत को निर्भय बनाना ही होता है। जो पुरुष तपस्वी को गालियाँ देता है या मारपीट करता है, उसे भी तपस्वी कटुक वचन कहकर भयभीत नहीं करता, प्रत्युत उसे अभयदान देकर निर्भय बनाता है। तपस्वी दूसरों द्वारा दिये हुए कष्टो को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है मगर सामर्थ्य होने पर भी दूसरों को भयभीत नहीं करता। यही तपस्वी की बडी विशेषता है। गजसुकुमार मुनि में क्या शक्ति नहीं थी? फिर भी उन्होंने मस्तक पर धधकते हुए अगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण को वचन से भी भयभीत नहीं किया! बल्कि उसे परम सहायक समझ कर अभयदान दिया। इतना ही नहीं, गजसुकुमार के गुरु भगवान् नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण से भी यही कहा था कि—हे कृष्ण! उस पुरुष पर क्रोध मत करो। उसने तो गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि सोमल ब्राह्मण ने उनके शिष्य के माथे पर दहकते हुए अंगारे रक्खे थे, फिर भी भगवान् ने उस पर क्रोध नहीं किया और श्रीकृष्ण को भी क्रोध करने से रोका। इस प्रकार तपस्वी किसी को भयभीत नही करते और जो भयभीत होते हैं, उन्हें अपनी अमृतवाणी द्वारा आश्वासन देकर निर्भय बनाते हैं।

कहने का आशय यह है कि तपस्वी की वाणी में शुद्धि और पवित्रता होनी चाहिए। इतना ही नहीं, वरन् उसके मन में भी शुद्धि और पवित्रता होना आवश्यक है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि प्रकट में वाणी द्वारा कुछ और कहा जाय तथा मन में दुर्भावना रक्खी जाय। जो तपस्वी अपने मन और वचन में एकता नहीं

रखता उसका तप प्रशस्त नहीं है। सच्चा तप तो वही है जिसके द्वारा मन शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बन जाता है। मन में जब रजोगुण या तमोगुण होता है तब मन निर्मल नहीं रह सकता। जिसका मन रजोगुण या तमोगुण से अतीत हो जाय अथवा त्रिगुणातीत हो जाय तो समझना चाहिए कि वह सच्चा तपस्वी है और उसका मन निर्मल है। जब तपस्वी का मन त्रिगुणातीत होकर निर्मल हो जाता है तभी तपस्वी का मन फलता है अर्थात् तप का फल व्यवदान प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है और अपने इस कार्य में वह राजा रंक का भेद नहीं रखता, अपना सौम्य प्रकाश सभी को समान रूप से प्रदान करता है, उसी प्रकार जो महात्मा मन में किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेद नहीं रखता—सभी को शान्ति पहुँचाता है, वही कर्मों का नाश करके मुक्त हो सकता है। इस विषय में गीता में कहा है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहम्।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

तप मानसिक, वाचिक और कायिक के भेद से तीन प्रकार का है। तीनों प्रकार से तप करने वाले का ही तप परिपूर्ण कहलाता है। पूर्ण तपस्वी का मन प्रसन्न और शान्त रहता है।

किसी धन के अभिलाषी को अनायास ही धन मिल जाय तो वह कितना प्रसन्न होता है? धन के अभिलाषी पुरुष के लिए जो धन आनन्ददायक है वही धन साधुओं के लिए हानिकर है। चोर का भय प्रायः धनिकों को होता है। राजा धनिकों को ही अधिक सताता है पर तपस्वियों को किसी का भय नहीं होता। इस प्रकार धन कोई उत्तम वस्तु नहीं है, फिर भी गृहस्थों को धन रखना ही पड़ता है,

क्योंकि धन के विना संसार व्यवहार नहीं चलता। जैसे संसार-व्यवहार के लिए धन का होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार साधुओं के लिए तप का होना अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थों का धन रुपया-पैसा है और साधुओं का धन तप है। साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है—'अणगारे तवोधणे।' अर्थात् साधु तपोधनी है। जो मुनि तपोधनी होता है, उसका मन गंगा के जल के समान निर्मल होता है। गंगाजल में लोग गंदगी डालते हैं तो गंगा उस गंदगी को भी साफ कर देती है। इसी प्रकार तपोधनी मुनि भी गंदे मनुष्यों को बन्दे अर्थात् परमात्मा के भक्त बना देते हैं। तपोधनी का प्रशस्त मुख देखकर वैरी भी अपना वैर भूल जाता है। तपोधनी का मुख शान्त, मन प्रसन्न और वचन मधुर होता है। तपस्वी की मुखमुद्रा पर शान्ति और सौम्यता का भाव टपकता रहता है। यह सौम्य भाव देखने मात्र से तपस्वी का तपस्तेज प्रतीत हो जाता है। तपस्वियो की प्रशान्त मुखमुद्रा से ही विदित हो जाता है कि इन महात्मा की तपश्चरण आदि गुणसम्पत्ति कितनी है। तपस्वियो की तपः समृद्धि किस प्रकार ख़याल में आ जाती है, इस बात का वर्णन श्री उत्तराध्ययनसूत्र के वीसवें अध्ययन मे किया गया है। अनाथी मुनि को देखकर राजा श्रेणिक कहने लगा—अहो! इन मुनि में कैसी क्षमा है। कैसा इन्द्रियनिग्रह है! मुनि कितने सौम्य हैं! इनका कैसा तपस्तेज है।

राजा ने अनाथी मुनि की क्षमा या तप साक्षात् नहीं देखा था। फिर भी उनकी मुखमुद्रा पर से ही अनुमान कर लिया था कि यह मुनि क्षमासागर और तपस्वी हैं। तपस्वी का मुख सदैव सौम्य रहता है।

तपस्वी महात्मा या तो स्वाध्याय में या परमात्मा के ध्यान में लीन रहते हैं अथवा मौन का सेवन करते हैं। वे अधिक नहीं बोलते और जब बोलते हैं तो तप के लिए ही बोलते हैं अर्थात् दूसरों को निर्भय बनाने के लिए ही बोलते हैं। गर्दभालि मुनि ध्यान-मौन में थे, परन्तु सयति राजा को भयभीत देखकर उसे निर्भय बनाने के लिए ही वह बोले थे। इस प्रकार तपस्वी मन की गति को आत्मा का निग्रह करने की ओर झुकाते हैं। वे अन्य कर्मों में मन का उपयोग नहीं करते। तपस्वियों के भाव उज्ज्वल होते हैं, मलीन नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस तप द्वारा मानसिक शुद्धि हो वही सच्चा तप है। कर्म की निर्जरा करने के लिए अर्थात् व्यवदान फल प्राप्त करने के लिए जीवन में तप को स्थान दो तो कल्याण होगा।

साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है:—

संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरइ।

अर्थात्—जो तप-सयम द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचरता है वही वास्तव में साधु है। ऐसा तपस्वी और संयमी साधु अपना और पर का कल्याण-साधन कर सकता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि जैनशास्त्र क्रियात्मक धर्म की प्ररूपणा करता है। इस प्रश्न से भी यह बात सिद्ध होती है। अतएव जो साधु, साध्वी, श्रावक या श्राविका अपने को भगवान् के शासन का अनुयायी मानता हो, उसे तप और संयम की आराधना करनी चाहिए। तप और संयम से ही आत्मा का कल्याण होता है। अतः मन, वचन और काय से तप एवं संयम को अपने

जीवन में प्रत्येक को स्थान देना चाहिए। ऐसा किये विना आत्म-कल्याण नहीं होता।

कितनेक लोग दूसरे को कष्ट देने के लिए या अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए भी तप करते हैं, मगर ऐसा तप इस तप में नहीं गिना जा सकता। यहाँ जिस तप का वर्णन नहीं किया गया है, वह कर्मों का क्षय करने के लिए ही है। वास्तव में सच्चा तप वही है जो दूसरों को कष्ट देने के लिए न किया गया हो, सिर्फ कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से किया गया हो।

अट्ठाईसवाँ बोल ।

व्यवदान

सम्यक्त्व में पराक्रम करने के लिए भगवान ने ७३ बोल कहे है। उनमे से २७ बोलों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। २७ वें बोल में तप के विषय में प्रश्न किया गया था कि—'तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?' अर्थात हे भगवन्! तपश्चर्या से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फर्माया—'तवेण जीवे वोदाणं जणयइ।' अर्थात्—तपश्चर्या करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न कर रहे है कि पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने से, व्यवदान से–जीव को क्या लाभ होता है?

मूलपाठ

प्रश्न–वोदाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—व्यवदान से, भगवन् ! जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—व्यवदान (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से) जीवात्मा सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है और फिर सिद्ध बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होकर सब दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन

व्यवदान, तप का साक्षात् और तात्कालिक फल है। फल दो प्रकार का होता है। एक तो अनन्तर अर्थात् तत्काल मिलने वाला फल और दूसरा पारम्परिक फल अर्थात परम्परा से मिलने वाला। व्यवदान तप का तत्काल मिलने वाला फल है। कार्य समाप्त होते ही जो फल मिलता है वह आनन्तर्य फल कहलाता है और तप का आनन्तर्य फल व्यवदान है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना तप का तत्काल मिलने वाला फल है।

तप का तात्कालिक फल व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होना है, परन्तु पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से जीवात्मा को लाभ क्या होता है ? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया है—व्यवदान करने से जीव अक्रिय अवस्था प्राप्त करता है।

जहाँ कोई भी क्रिया करने का निमित्त नहीं रहता वह अक्रिय दशा कहलाती है। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाना व्यवदान का फल है।

शास्त्र मे शुक्लध्यान के चार भेद बतलाये गए हैं। उनमें चौथा भेद अक्रिय अवस्था है। यह अक्रिय अवस्था मोक्षप्राप्ति के समय ही प्राप्त होती है। अक्रिय अवस्था प्राप्त करने से आत्मा मन, वचन, काय के योग का निरोध करके शैल-पर्वत की भाँति अडोल-स्थिर-अकंप बन जाता है। शास्त्र मे कहा है—आत्मा मे जब तक कर्मों का प्रभाव बना रहता है तब तक आत्मा स्थिर नहीं हो सकता। कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तभी आत्मा स्थिर और शान्त बन सकता है।

समुद्र का पानी स्वभाव से तो स्थिर है, परन्तु पवन की प्रेरणा के कारण चंचल बन जाता है। पानी का स्वभाव तो स्थिर रहने का है, परन्तु पानी से भरा वर्तन आग पर रखने से, आग की प्रेरणा पाकर पानी उबलने लगता है। एँजिन मे आग की प्रेरणा से ही पानी के द्वारा भाप उत्पन्न होती है। उसी भाप के कारण एंजिन दूसरे डब्बो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर झपाटे के साथ ले जाता है और छोड़ आता है। इस प्रकार रेलगाड़ी का सारा व्यवहार प्रेरणा से ही चल रहा है।

इसी प्रकार कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाड़ी चौरासी लाख जीवयोनियों मे दौड़ाता फिरता है। अब तो आत्मा को भव-भ्रमण की यह दौड़धाम बन्द करके अपने आपको 'स्थिर' करना चाहिए। आत्मा को स्थिर करने के लिए ही आत्मा को कर्म-रहित अक्रिय होने की आवश्यकता है।

जैसे पानी का स्वभाव उबलने का नहीं है, फिर भी आग की प्रेरणा से ही वह उबलता है, और यह प्रेरणा बाहरी होने के कारण रोकी भी जा सकती है। इसी प्रकार आत्मा को भवभ्रमण

और अस्थिर रखने की प्रेरणा करने वाले कर्म हैं। कर्मों की यह प्रेरणा बाहरी और बनावटी होने के कारण रोकी जा सकती है। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय (व्यवदान) करने से जीवात्मा अक्रिय दशा प्राप्त करता है और फल स्वरूप सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त हो जाता है।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सभी की समझ मे आ सकता है। इस सत्य कथन में किसी को संदेह करने की गुँजाइश नहीं है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा में जो कुछ भी अस्थिरता पाई जाती है वह योग की चपलता की बदौलत ही है। योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जाएगी और आत्मा 'स्थिर' तथा 'शान्त' हो जाएगा।

भगवान् ने तो सब ज़ीवात्माओं को उद्देश्य करके आत्मा को स्थिर बनाने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगों का आत्मा तो घुड़दौड़ के घोड़े की तरह दौड़धूप ही करना चाहता है। ऐसी दशा में तुम्हारे आत्मा को शान्ति किस प्रकार मिल सकती है? घुडदौड़ के घोड़े चाहे जितनी दौड़ लगावें, आखिर उन्हें शान्ति तो तब ही मिल सकती है, जब वे दौड बन्द करके स्थिर होते हैं। हमेशा दौड़ते रहना न ठीक है और न शक्य ही है।

इसी प्रकार आत्मा इस संसार में चाहे जितनी दौडधूप करे, मगर आखिर वह जब स्थिर होगा तभी उसे सच्ची शान्ति मिलेगी। जहाँ तक आत्मा स्थिर नही होता तहाँ तक आत्मा को शान्ति मिलना सभव नहीं। व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर भी यह बात पुष्ट होती है। तुम कार्य-वश बाजार जाकर चाहे जितनी दौड़धाम करो, मगर घर आकर स्थिर और शान्त हुए विना व्यावहारिक

शान्ति भी नहीं मिल सकती। यही बात दृष्टि में रखकर बुद्धिमान पुरुषों ने कहा है कि मनुष्य में न तो ऐसा आलस्य ही होना चाहिए कि वह कोई काम ही पूरा न कर सके और न ऐसी चचलता ही होनी चाहिए कि जिसके कारण शान्ति ही नसीब न हो सके। मनुष्य को मध्यम मार्ग पर चलने की आवश्यकता है।

भगवान् ने योगनिरोध करने की जो बात कही है, वह चौदहवें गुणस्थान की है, और अपन इस काल में ऊँचे से ऊँचे छठे व सातवें गुणस्थान तक ही पहुँच सकते हैं। अतएव हमें दौड़ने की ऐसी उतावली नहीं करनी चाहिए कि रास्ते मे कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ें, और ऐसी स्थिति हो जाय कि न इधर के रहे न उधर के रहे।

शास्त्र के इस कथन को अमल में किस प्रकार लाया जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह बात तो हमें स्मरण में रखनी चाहिए कि चौदहवे गुणस्थान में पहुँचने से अक्रिय दशा प्राप्त होती है। अतएव एकदम ऐसा प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि चौदहवें गुण-स्थान की स्थिति प्राप्त करने के बदले और नीचे गिरने की नौबत आ जाए।

किसी भी ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए सीढी-सीढी चढना पड़ता है। अगर कोई मनुष्य एक साथ, छलांग मार कर दो-चार सीढ़ियाँ कूदना चाहता है तो उसके नीचे पड़ने की अधिक सभावना रहती है। इसलिए हमें भी ऐसी छलांग नहीं मारनी चाहिए कि इस समय हम जिस गुणस्थान में हैं, उससे भी नीचे पड़ जाएँ। हम लोगों को तो आत्मा का विकास करना है। अगर हम आलसी होकर बैठे रहेंगे तो आत्मविकास कैसे कर सकेंगे? साथ ही एकदम

छलांग मारकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करेंगे तो नीचे गिरने का भय है। अतएव मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके क्रमपूर्वक आत्म-विकास करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

आजकल धार्मिक सुधार करने के लिए मध्यम श्रेणी के लोगो की अत्यन्त आवश्यकता है। हम साधुओ को पूर्वकाल के महात्माओं ने जो जबावदारी सौंपी है, उसे एक किनारे रख देना और जो यम-नियम बताये हैं, उन्हें छोड बैठना हमारे-साधुओ के लिए उचित नहीं है।

दूसरी तरफ, तुम लोग जैसा जीवनव्यवहार चला रहे हो, वैसा ही चालू रक्खोगे तो धर्मोन्नति होना कठिन है। पहले के ज़माने मे जो कुछ होता था वह उस ज़माने के मुताबिक होता था। पर अब ऐसा ज़माना आ गया है कि हमें समयानुसार धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न करने की खास आवश्यकता है। पहले जमाने मे आजकल की तरह धार्मिक पाठशालाएँ नहीं थीं। उस समय साधु, श्रावकों को प्रतिक्रमण आदि का धार्मिक शिक्षण देते थे। इसके सिवाय उस समय आजकल की भाँति व्यावहारिक शिक्षा भी नहीं दी जाती थी। जब लौकिक शिक्षा बढ़ गई है तो धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता भी बढ़ गई है। परन्तु तुम लोग तो ऐसे सब काम साधुओं की मार्फत ही कराना चाहते हो और कहते हो कि साधु यह काम नहीं करते तो समाज का खाते क्यों है? खाने के बदले वे हमारा क्या काम करते हैं? ऐसा कहना तुम्हारी भूल है। साधु तुम्हारे भरोसे नहीं हैं। वे अपने संयम का और अपने पूर्वजों द्वारा बांधे हुए नियमो का पालन करते हुए चाहे जहाँ से अन्न पानी ला सकते हैं। इसलिए तुम साधुओ के सिर ही सारी जबावदारी मत

मढ़ो। विचार करो कि यह उत्तरदायित्व तुम्हारा भी है। तुम हमा
माथे उत्तरदायित्व मढ़ते हो मगर हम लोग कहाँ-कहाँ पहुँचें ? आत
सुधार और धर्मसुधार के लिए तो साधु यथाशक्य प्रयत्न करते
हैं। परन्तु तुम लोग जब विदेश जाते हो तो क्या अपने साथ अपन
धर्म भी वहाँ ले जाते हो ? कहा जा सकता है कि ऐसा करने
धार्मिक बाधा आती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाल
भूल करता है। चम्पा का पालित श्रावक समुद्रयात्रा करके पिहुं
नगर गया था। उसकी इस समुद्रयात्रा में क्या कुछ शास्त्रीय विरोध
बाधा थी ? आज शास्त्र का रहस्य पूरी तरह समझने का प्रयत्
नहीं किया जाता, शास्त्र का सिर्फ दुरुपयोग किया जाता है।

जैनशास्त्र मे ऐसी कोई संकीर्णता नहीं है। इतना ही नहीं
संसार में जो संकीर्णता फैली हुई थी, जैनशास्त्रों ने उसे हटाया
और बताया है कि समुद्रयात्रा करना ऐसा कोई भयकर पाप नहीं
है। जिस पालित श्रावक ने समुद्र यात्रा की थी, उसके विषय
शास्त्र मे कहा गया है कि पालित श्रावक, श्रावकों में पडित औ
जैनशास्त्रों मे कुशल था। उस पालित श्रावक की समुद्रयात्रा में ज
धर्म बाधक नहीं बना, वही धर्म आज बाधक कैसे हो सकता है
अतएव धर्म समुद्रयात्रा में बाधक है, ऐसा बहाना न करके जह
कहीं तुम जाओ, अपने धर्म को भी साथ लेते जाओ। सदैव ध्या
रक्खो कि हमारा धर्म हमारे साथ है और हमारी यात्रा का ध्ये
धर्म का प्रचार करना है। तुम यही समझो कि हम अपने धर्म क
प्रचार करने के लिए ही विदेश में आये हैं। क्या इस प्रका
धर्म का प्रचार करते रहने से तुम्हारे किसी व्यावहारिक काम
बाधा खड़ी होती है ? आर्यों के विषय में कहा जाता है कि आर

लोग जब भारत में आये थे तब वे अपना धर्म और अपनी संस्कृति भी साथ लाए थे। जब आर्य लोग अपना धर्म और अपनी संस्कृति साथ लाए थे तो फिर तुम लोग अपने जैनधर्म को और अपनी जैन-संस्कृति को विदेश में साथ क्यों नहीं ले जा सकते ? तात्पर्य यह है कि धर्मप्रचार के विषय में निष्क्रिय हो बैठने से काम नहीं चल सकता। श्रावकों को भी अपना उचित भाग अदा करना चाहिए।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि व्यवदान से अर्थात् पूर्व-सचित कर्मों का क्षय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—हे गौतम ! प्रथम तो पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना ही अत्यन्त कठिन है, परन्तु जब कर्मों का क्षय हो जाता है तो जीवात्मा को अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त होने से आत्मा की अस्थिरता दूर हो जाती है और पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है।

भगवान् के इस उत्तर से यह बात निश्चित हो जाती है कि ससार में जितनी चचलता प्रतीत होती है, वह सब कर्मों की उपाधि के कारण ही है। यद्यपि चचलता के कारण ससार है और संसार के कारण चचलता है, तथापि प्रत्येक आत्महितैषी व्यक्ति को संसार के मायाजाल से मुक्त होने का और आत्मा को स्थिर करके शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जन्म-मरण करते-करते आत्मा ने अनन्त काल व्यतीत किया है, फिर भी उसे शान्ति नहीं मिली। वास्तव में जब तक आत्मा में चचलता है, स्थिरता नहीं आई है, तब तक आत्मशान्ति नहीं मिल सकती। आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को स्थिर करना चाहिए।

जो आत्मा संसार मे ही भ्रमण करना चाहता है उसके लिए तो यह धर्मोपदेश, भैंस के आगे बीन बजाने के समान है, परन्तु जो जीवात्मा संसार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल होकर संसार के मायाजाल से मुक्त होने की अभिलाषा रखते है, उनके लिए तो यह शान्ति का मार्ग है। आत्मा को स्थिर करना ही जन्म-मरण से मुक्त होने का और आत्मशान्ति प्राप्त करने का राजमार्ग है।

हमारे सामने दो मार्ग हैं—ससारमार्ग और मोक्षमार्ग। इन दो मार्गों मे से आत्मा जिस मार्ग पर जाना चाहे, जा सकता है। संसारमार्ग पर जाने से भवभ्रमण बढता है और मोक्षमार्ग पर चलने से भवभ्रमण रुकता है। संसारमाग बंधन का कारण है और मोक्ष मार्ग मुक्ति का कारण है। शास्त्रकार तो प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष का ही मार्ग बतलाते हैं, क्योकि मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त बनता है और सब दुःखो का अन्त करता है।

सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के लिए जीवात्मा को सर्वप्रथम स्थिरात्मा बनने की आवश्यकता है। स्थिर हुए बिना आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। वास्तव मे आत्मा स्वभाव से तो स्थिर ही है, परन्तु कर्मरूपी अग्नि की प्रेरणा से वह अस्थिर बन गया है। कभी उच्च कर्मो का उदय होता है तो कभी-कभी नीच कर्मों का। अर्थात् कभी पुण्य का और कभी पाप का उदय होता रहता है। इसी कारण आत्मा अस्थिर बन जाता है। आत्मा को अस्थिर और अशान्त बनाना कर्मों का मुख्य काम है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों के ही विकार (फल) हैं। पुण्य, कर्मों का शुभ परिणाम है और पाप, अशुभ कर्मों का परिणाम है। इस प्रकार पुण्य-पाप

दोनों कर्मों की ही संतान हैं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा को पुण्य और पाप रूप दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पानी में चाहे शक्कर डाली जाय, चाहे कोई कटुक चीज डाली जाय, पानी तो दोनों के डालने से विकृत होगा ही। यह बात दूसरी है कि शक्कर डालने से पानी में जो विकृति आती है वह शुभ विकृति है और कटुक चीज के सयोग से होने वाली विकृति अशुभ है। परन्तु यह दोनों वस्तुएँ विकार-जनक होने के कारण उनसे पानो तो अशुद्ध हुआ ही। पानी में जब बाहर की कोई भी वस्तु न मिलाई जाय, तभी पानी का मूल स्वरूप देखा जा सकता है। इसी प्रकार पुण्यकर्म शुभ दशा है और पापकर्म अशुभ दशा है। परन्तु इन दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्मा तो विकृत होता ही है। शुभाशुभ कर्मों की इस विकृति से आत्मा जब छुटकारा पाता है तभी वह अपने असली स्वरूप में स्थिर होता है। इसी कारण शास्त्रकारों ने पुण्य और पाप दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को अन्त में त्याज्य बतलाया है।

जीवात्मा में जब तक बाल भाव है–अज्ञान दशा है–तब तक वह शुभ कर्मों को शुद्ध समझता और उसी में आनन्द मानता है। परन्तु कर्म चाहे वह शुभ ही क्यों न हो, आत्मा को तो अशुद्ध ही बनाता है। जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं, उन्हें तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग करना पड़ेगा और आत्मा को कर्मरहित बनाना पड़ेगा।

व्यवदान का फल बतलाते हुए भगवान् ने शुक्लध्यान की चौथी अवस्था–अक्रिय दशा की बात कही है। अक्रिय दशा का

अनुभव मोक्ष जाने के समय ही होता है। मै अब तक शुक्लध्यान की चौथी अक्रिय अवस्था का अनुभव नही कर सका हूँ, परन्तु जो महापुरुष तेरहवे गुणस्थान मे पहुँच कर चौदहवे गुणस्थान की स्थिति प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उनका कहना है कि अक्रिय दशा प्राप्त होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय की है। इतने अल्प समय मे आत्मा अक्रिय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यद्यपि मोक्ष जाने मे आत्मा को इतना ही समय लगता है, तथापि मोक्षप्राप्ति के लिए अभ्यास-प्रयत्न पुरुषार्थ तो पहले से ही करना पड़ता है। जैसे निशाना ताकने मे अधिक समय नही लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने मे बहुत समय लगता है और लम्बे समय तक अभ्यास करने के बाद ही ठीक निशाना साधा जा सकता है, इसी प्रकार मोक्ष तो थोडे ही समय मे हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। राधावेध करने मे बहुत समय नही लगता है। इसी प्रकार मोक्ष तो पॉच लघु अक्षर उच्चारण करने जितने काल में हो जाता है परन्तु इस लक्ष्य को साधने के लिए पहले बहुत समय अभ्यास करना पडता है। शास्त्रकार मोक्ष रूपी लक्ष्य को साधने का ही उपदेश देते हैं। इस उपदेश का ध्यान रखते हुए मोक्ष साधने का अभ्यास करते रहो। अगर अभ्यास और प्रयत्न ठीक तरह किया जायगा तो कार्य सिद्ध होते देर नही लगेगी।

प्रत्येक लक्ष्य को साधने का अभ्यास या प्रयत्न उपयुक्त साधनो द्वारा ही करना चाहिए, विपरीत साधनो द्वारा नहीं। विपरीत साधनों द्वारा अभ्यास करने से कार्य सिद्ध होने के बजाय बिगड़ जाता है।

भगवान् कहते हैं—तप का फल व्यवदान है और व्यवदान का फल अक्रिया है। अक्रिया दशा प्राप्त होने पर ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अक्रिय दशा को प्राप्त होने पर आत्मा जब सिद्ध हो जाता है और सिद्ध शब्द में दूसरे सब शब्द गतार्थ हो जाते हैं तो फिर शास्त्रकारों ने 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध', 'मुक्त' आदि शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? ऐसा करने मे उनका क्या आशय था? इस बात पर यथामति और यथाशक्ति विचार करना आवश्यक है।

संसार में सिद्धि का स्वरूप भिन्न-भिन्न दृष्टियो से माना जाता है। कुछ लोग दीप-निर्वाण के समान अर्थात् दीपक बुझ जाने के समान सिद्धि का स्वरूप मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे बुझ जाने के बाद दीपक कुछ भी नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध होने के बाद कुछ भी नही रहता। परन्तु जैनशास्त्र मे सिद्धि का ऐसा स्वरूप नहीं स्वीकार किया गया है। अतः दीप-निर्वाण के समान सिद्धि का स्वरूप मानने वालो का निषेध करने के लिए ही 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का उपयोग किया गया है।* बुझा

---

*कुछ दर्शनिको की यह मान्यता है कि सिद्धि अवस्था में आत्मा के सभी विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का अस्तित्व तो रहता है मगर उसकी 'बुद्धि' अर्थात ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। मतलब यह हुआ कि सिद्धिदशा मे आत्मा पत्थर की तरह जड हो जाता है। 'सिद्धि' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकारों ने इस भ्रम का भी निवारण कर दिया है।

आत्मा के विकासक्रम के अनुसार आत्मा पहले 'बुद्ध' होता है और फिर सिद्ध होता है। तेरहवें गुणस्थान में 'बुद्ध' हो

हुआ दीपक न अंधकार फैलाता है, न प्रकाश करता है। अगर दीपक की तरह आत्मा भी सिद्ध होने के बाद अस्तित्व में न रहे और नष्ट हो जाय तो फिर आत्मा की ऐसी सिद्धि किस काम की? आत्मा सिद्ध होने पर अस्तित्व में ही न-रहे, वरन् दीपनिर्वाण की तरह नष्ट हो जाय, ऐसा मान लिया जाय तो अनेक दोष आते हैं। इन दोषों का परिहार करने के लिए शास्त्र मे 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है कि आत्मा सिद्ध होने पर बुद्ध भी होता है अर्थात् सर्वज्ञानी और सर्वदर्शनो बन जाता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, उस सिद्धात्मा के लिए क्या करना शेष रह जाता है? या सिद्ध होने के बाद 'बुद्ध' होता है?

जाता है। मगर 'सिद्ध' नही होता। सिद्धदशा उसके बाद प्राप्त होती है। इस क्रम के अनुसार पहले 'बुद्ध' और फिर 'सिद्ध' कहना चाहिए था, मगर शास्त्रकारों ने पहले 'सिद्ध' और बाद मे 'बुद्ध' कहा है। इसका कारण भी यही है। वैशेषिकदर्शन सिद्ध होने से पहले तो आत्मा को 'बुद्ध' (ज्ञानी मानता है मगर सिद्ध होने के बाद बुद्ध नहीं मानता। सिद्ध होने पर बोध नष्ट हो जाता है। मगर शास्त्रकार 'सिद्ध' शब्द से पहले 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करते तो पाठकों को सदेह हो सकता था कि सिद्ध होने से पहले तो बुद्ध भले हो मगर 'सिद्ध' होने के बाद 'बुद्ध' रहता है या नहीं? इस शका का समाधान करने के लिए पहले सिद्ध और फिर बुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह निकला कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा बुद्ध रहता है।

—सम्पादक।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्णज्ञानी होने के बाद ही 'सिद्ध' दशा प्राप्त होती है। परन्तु जैसे अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिलने पर ही अभ्यास का महत्व बढ़ता है, उसी प्रकार पूर्णज्ञानी होने का प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होने पर मिलता है। जब अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है तभी जनसमाज में अभ्यास का कीमत आकी जाती है। इसी प्रकार सिद्ध होने से पहले पूर्णज्ञान रहता ही है मगर उसका प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होना है। शास्त्र मे कहा है कि बुद्ध होने से कोई नवीन ज्ञान नहीं आ जाता। ज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान से ही होता है, परन्तु सिद्ध होने के बाद वह नष्ट नहीं हो जाता। यह बताने के लिए 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' होने का भी कथन किया गया है।

कुछ लोगों का कहना है कि सिद्ध आत्मा भी संसार में अवतार धारण करता है--जन्म लेता है। एक बार सिद्ध हो जाने पर वह आत्मा जब संसार मे किसी प्रकार की विपरीतता देखता है तब राग-द्वेष से प्रेरित होकर फिर संसार में अवतार लेता है। भगवान् महावीर ने जो सिद्धि कही है, वह इस प्रकार की नहीं है। शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त भी हो जाता है। यही बात विशेष स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दो के साथ 'मुक्त' शब्द का भी प्रयोग किया है। गीता में भी कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

अर्थात् जहाँ जाने के बाद पीछे लौटना नही पड़ता, वही मेरा धाम है।

गीता में तो ऐसा कहा है, फिर भी उसके अर्थ का खयाल न करके कहा जाता है कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा जगत् की विपरीतता दूर करने के लिए संसार में जन्म धारण करता है। इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारो ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध हुए आत्मा को संसार मे अवतार या जन्म नहीं लेना पड़ता।

इस कथन पर यह आशंका हो सकती है कि इसी प्रकार जीव सिद्ध होते रहेगे तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब इस संसार में एक भी जीव बाकी नहीं रहेगा। कुछ लोगों को यह भय लगा है कि संसार कहीं जीवों से एकदम खाली न हो जाय! इस कारण वे कहते हैं कि जीवात्मा थोड़े समय तक सिद्धिस्थान में रह कर फिर ससार मे लौट आता है। मगर यह कल्पना मिथ्या है और भ्रम उत्पन्न करने वाली है। तुम लोग भी शायद यही सोचते होंगे कि जीव अगर इसी तरह मुक्त होते रहे और वापिस न आये तो कभी न कभी सारा ससार जीवो से शून्य हो जायगा। परन्तु इस बात पर यदि गहरे उतर कर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हे यह लगे विना नहीं रहेगा कि यह कल्पना खोटी और भ्रामक है। जिन महात्माओ ने सिद्धि प्राप्त की है और सिद्धि का स्वरूप देखा है-जाना है, उन महात्माओ ने काल को भी देखा और जाना है, उसके बाद ही उन्होंने अपना निर्णय घोषित किया है कि ससार कभी जीव-रहित हो ही नहीं सकता। ज्ञानी महात्माओं के इस कथन पर तुम स्वयं भी गहरा विचार करोगे तो इस कथन को समझे विना नहीं रह सकते। और तुम्हारा सारा संदेह मिट जाएगा।

तुम जरा काल क विषय मे विचार करो। क्या भूतकाल का कहीं अन्त मालूम होता है? तिथि, मास, वर्ष वगैरह बहुत बार

व्यतीत हो चुके। सब की गणना करो तो भी भूतकाल का अन्त नहीं आ सकता। उसे अनन्त कहना पड़ेगा। अपने वर्तमान जीवन का अन्त तो आ जायगा मगर भविष्य काल का अन्त नहीं आ सकता। इस प्रकार जब भूतकाल और भविष्यकाल का अन्त नहीं तो उन कालों में होने वाले पदार्थों का अन्त कैसे हो सकता है? संसार के समस्त काम काल के साथ ही होते हैं। अतएव ज्ञानी आत्माओं ने भूतकाल और भविष्यकाल को देखकर कहा है कि जीव, काल की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं। अतएव संसार का अन्त नहीं आ सकता तथा किसी भी काल में वह जीवों से रहित भी नहीं हो सकता। यही बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ:—

मान लो किसी कोठरी में श्रीफल भरे हैं और दूसरी कोठरी में खसखस के दाने भरे हैं। दोनों कोठरियाँ लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई में बराबर हैं। मगर श्रीफल परिमाण में बड़े होने से, गिनती के लिहाज से, खसखस के दानों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। अब अगर दोनों कोठरियों में से, क्रमशः एक श्रीफल और एक खसखस का दाना बाहर निकाला जाय तो पहले कौनसी कोठरी खाली होगी? श्रीफलों की कोठरी का पहले खाली होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार काल श्रीफलों के बराबर है और जीवात्मा खसखस के दानों के बराबर हैं। जब काल का ही अन्त नहीं तो जीवों का अन्त कैसे आ जाएगा?

इस प्रश्न के विषय में पूज्य श्रीलालजी महाराज बहुत बार फर्माया करते थे कि रुपयों का चाहे जितना ऊँचा ढेर करो, क्या आकाश का कभी अन्त आ सकता है? रुपयों का ढेर करने से आकाश का उतना हिस्सा अवश्य रुकता है, परन्तु उससे आकाश का अन्त नहीं आ सकता। कारण यह है कि आकाश अनन्त है।

इसी प्रकार जीवात्मा कितने ही सिद्ध हों, मगर संसार का अन्त नहीं आ सकता। यह बात श्रद्धागम्य है। तुमने भूतकाल और भविष्य को अनन्त नहीं जाना है, फिर भी श्रद्धा के कारण ही उन्हे अनन्त कहते हो। तो जिस प्रकार श्रद्धा से काल को अनन्त मानते हो उसी प्रकार श्रद्धा से यह भी मानो कि जीव चाहे जितने सिद्ध हों तो भी ससार जीवरहित नहीं हो सकता।

भगवान् ने कहा है, जीव जब पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है तब उसे अक्रिय दशा प्राप्त होती है और इसके बाद सिद्ध बुद्ध, और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है अर्थात् उपाधिरहित होकर सर्व दुःखों का अन्त करता है। जीव जब उपाधिरहित बन जाता है तब उसे संसार मे वापिस लौटने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैसे दग्ध (जले हुए) बीज में से अंकुर नहीं फूटता उसी प्रकार जिन्होंने उपाधियों का अन्त कर डाला है, उन्हे संसार मे फिर अवतार या जन्मधारण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

सिद्धि का ऐसा स्वरूप है। इस स्वरूप को जानकर कोई कहते है कि ऐसी सिद्धि किस काम की? ऐसा कहने वालो से और क्या कहा जा सकता है? जो लोग सिद्धिस्थान में जाना चाहते हैं, उनके लिए तो भगवान ने मोक्ष का मार्ग बतलाया ही है पर जो लोग सिद्धि नहीं चाहते उन्हे मोक्ष का मार्ग बताना वृथा है। आत्मा मे जब तक बालबुद्धि है तब तक आत्मा सुख मे दुःख और दुःख मे सुख मानता है। बालजीव संसार के पदार्थों में सुख मानते है, परन्तु वास्तव मे आत्मा मे जो अनन्त सुख भरा हुआ है, उस सुख की थोड़ी सी झांकी ही सांसारिक पदार्थों मे आती है और इसी कारण सांसारिक पदार्थ सुख रूप जान पड़ते है। वास्तव मे पदार्थों मे सुख

नहीं है। सच्चा सुख तो आत्मा में ही भरा है। पदार्थों में सुख मानना तो उपाधि है। इस उपाधि से मुक्त होकर आत्मा में रहे हुए सुख की शोध और उसी का विकास करना चाहिए।

आत्मा में रहे हुए अनन्त सुख को विकसित करना ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है। ससार की उपाधि से छुटकारा पाने के लिए अक्रिय बनने की परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए। संसार के समस्त दुःखों का अन्त अक्रिया से ही होता है और अक्रिय दशा पूर्वसचित कर्मों का नाश करने से प्राप्त होती है। अतः प्रत्येक आत्महितैषी का तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके अक्रिया दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

व्यवदान के फल के विषय में विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का नाश होता है, यह बात सुनिश्चित है, तो फिर व्यवदान का फल पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

टीकाकार यह प्रश्न खडा करके उसका समाधान करते हुए कहते हैं-सूत्र की बात गहन है। सूत्र में किसी जगह अतिदेश द्वारा और किसी जगह साक्षात् रूप से विषय का कथन किया गया है। अर्थात् कोई बात विस्तार से और कोई बात सक्षेप मे बतलाई है। ज्ञानी जनों को जहाँ जैसा उचित प्रतीत हुआ, उन्होंने वहाँ वैसा ही कथन किया है।

अतिदेश का साधारणतया अर्थ है—गौण बात कहना। अतिदेश द्वारा कही जाने वाली बात गौण होती है और साक्षात् कही जाने वाली मुख्य। उदाहरणार्थ—किसी सेठ ने अपने नौकर

से दातौन मँगवाया। नौकर ने विचार किया-दातौन के साथ पानी भी चाहिए और मुँह पौछने के लिए तौलिया भी चाहिए। इस प्रकार सेठ ने मँगवाया तो दातौन ही था, किन्तु गौण रूप से पानी और तौलिया लाने का भी संकेत था। इस प्रकार मुख्य रूप से और कोई बात हो तथा गौण रूप से दूसरी ही बात का संकेत हो, वह अति-देश कहलाता है। कदाचित् सेठ नौकर से कहे कि मैंने तो सिर्फ दातौन मँगवाया था। पानी और तौलिया कहाँ मँगवाया था? तो उत्तर में नौकर यही कहेगा-मुख्य रूप से तो आपने दातौन ही मँगवाया था मगर गौण रूप से पानी और गमछा भी मँगवाया था, क्योंकि दातौन के साथ पानी और गमछे की भी जरूरत रहती है।

इसी प्रकार शास्त्र में तपश्चर्या का फल पूर्वसंचित कर्मों का क्षय अर्थात् व्यवदान बतलाया है और व्यवदान के साथ ही अति-देश द्वारा अक्रियादशा का भी कथन किया गया है। फिर भी व्यव-दान के फल के विषय मे पुनः प्रश्न क्यो किया गया है? इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं—शास्त्र मे कही मुख्य रूप से कोई बात कही गई है और कहीं गौण रूप से कहीं गई है। ऐसा देखा जाता है।

व्यवदान का फल बतलाते हुए अक्रिया तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुःखो का अन्त होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब सिद्ध होना कहा और सिद्धि में प्रत्येक बात का समावेश हो जाता है तो फिर बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुःखो का अन्त करने की बात किस प्रयोजन से कही गई है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई बात एकार्थ नाना घोषों से भी कही जाती है। तदनुसार यहाँ व्यवदान का फल भी एकार्थ नाना घोष से कहा है। सिद्ध होने वाला व्यक्ति

बुद्ध भी हो जाता है, मुक्त भी हो जाता है, परिनिर्वाण भी पा लेता है और सब दुःखों का अन्त भी कर डालता है। ऐसा होने पर भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि शब्दों को जुदा-जुदा कहने का कारण, मेरी समझ से, यह मालूम होता है कि जैनशास्त्रानुसार सिद्ध होने वाला बुद्ध भी होता है। कुछ लोग मोक्ष में अज्ञान-अवस्था बतलाते हैं। जैनशास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। मोक्ष मे अज्ञान-अवस्था मानने वालों के शब्दाघात से अपना पक्ष सुरक्षित रखने के लिए ही 'सिद्ध' कहने के साथ ही 'बुद्ध' होना भी कहा गया है। वास्तव में तो सिद्ध होना और बुद्ध होना एक ही बात है। यही बात यहाँ नाना घोष से प्रकट की गई है।

किसी-किसी का कथन है कि सिद्ध को ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होता है परन्तु आचार्यों का मत यह भी है कि सिद्धों में ज्ञान और दर्शन का एक साथ उपयोग नहीं रहता। जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नहीं रहता और जब दर्शन का उपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नहीं रहता। यह विषय चर्चास्पद है। अगर किसी चर्चास्पद विषय में हमारी बुद्धि काम न दे सके तो 'केवलिवाक्यं प्रमाणं' कहकर संतोष मानना चाहिए। परन्तु जो बात शास्त्र में स्पष्ट रूप से कही गई हो, उसे तो उसी रूप में मानना चाहिए। सिद्ध के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक साथ होता है या नहीं, इस विषय मे पन्नवणासूत्र मे कहा है—

केवली णं भंते ! जं समयं जाणइ न तं समयं पासइ ?
जं समयं पासइ न तं समयं जाणइ ? हंता, गोयमा !

अर्थात्—गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा—भगवन्! केवली का जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता ? और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—हाँ, गौतम ! ऐसा ही है।

शास्त्र में इस वचन के प्रमाण से हमे ऐसा मानना चाहिए कि सिद्ध को जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञान का उपयोग नहीं होता। और जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नहीं होता।

कहने का आशय है कि सिद्ध होने पर ज्ञान-विज्ञान नष्ट नहीं हो जाता, यह प्रकट करने के लिए ही 'सिद्ध' के साथ 'बुद्ध' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्द के साथ अन्य शब्दो का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है, इस सम्बन्ध में साधारण विचार किया जा चुका है। यहाँ उस पर थोडा और विचार कर लेना है।

मुक्ति के विषय मे भी कुछ लोगों की अलग मान्यता है। मुक्ति के विषय में जो विपरीत अर्थ किया जाता है, उससे अपने कथन को पृथक् रखने के लिए ही सिद्ध और बुद्ध के साथ 'मुक्त' शब्द का व्यवहार किया गया है।

मनुष्य का जीवन न केवल बडे हथियार से ही, वरन् छोटी-सी सुई से भी नष्ट हो सकता है, इसी प्रकार साधारण बात की भिन्नता से भी सिद्धान्त मे अन्तर पड जाता है और उसका खंडन हो सकता है। जब कुछ लोग किसी शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार का अथवा उलटा करने लगते हैं तब विपरीत अर्थ का निवारण करके

सच्चा अर्थ बतलाना ज्ञानियों का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए शास्त्रकारों ने सिद्ध और बुद्ध कहने के साथ मुक्त शब्द का भी प्रयोग किया है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि आत्मा को कर्मबंध ही नहीं होता। जैनशास्त्र यह बात नहीं मानते। जैनशास्त्र कहते हैं—अगर आत्मा को कर्मबंध न होता तो वह मुक्त किस प्रकार हो सकता है? आत्मा मुक्त होता है, तो वह पहले कर्म-बंधन से बँधा हुआ होना ही चाहिए। यही बात स्पष्ट करने के लिए 'मुत्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार परिनिर्वाण को प्राप्त होने और सिद्ध मे कोई अन्तर नहीं। परन्तु कुछ लोग निर्वाण का अर्थ निराला ही करते हैं। बौद्ध लोग निर्वाण का अर्थ दीप-निर्वाण के समान करते हैं। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने के बाद वह कुछ नहीं बच रहता, इसी प्रकार सिद्ध होने पर आत्मा नहीं बचता! जैनशास्त्र इस मान्यता से सह-मत नहीं हैं। अतः बौद्धों के कथन को अमान्य प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकारों ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त शब्द के साथ निर्वाण शब्द का भी प्रयोग किया है।

'निर्वाण शब्द के बाद शास्त्रकारो ने कहा है—'सब दुःखों का अन्त करता है।' सिद्ध होने मे और सब दुःखों का अन्त करने मे तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, फिर भी दूसरे लोगो की गलत मान्यता का निवारण करने के लिए ही सब दुःखों का अन्त करने का भी विधान किया है। जैनशास्त्र कर्म को ही दुःख मानता है। श्रीभगवतीसूत्र में गौतम स्वामी और भगवान् के बीच इस विषय मे प्रश्नोत्तर हुआ है। वह इस प्रकार है—

दुक्खी णं भंते! दुक्खेण फुडे, किं अदुक्खी दुक्खेण फुडे?

अर्थात्—हे भगवन् ! दुखी दुःख से स्पष्ट होता है, अथवा अदुखी दुःख से स्पष्ट होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है। अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।

इस प्रकार दुखी को ही दुःख का स्पर्श होता है। यहाँ सब दुःखो का अन्त करने के लिए कहा गया है, उसका फलितार्थ भी कर्म से रहित होना है। सब कर्मों को नष्ट कर देना अर्थात् सब दुःखों का अन्त कर देना। यहाँ दुःख शब्द से कर्म लेना चाहिए। दुःखों का अन्त होने का अर्थ कर्मों का अन्त होना है। इसीलिए भगवती-सूत्र में चौवीस दंडक के विषय में जो प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उनमें भी यह कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भी दुःख से स्पृष्ट होते हैं, क्योंकि उनमें भी अभी तक कर्म शेष हैं। जिनमें भाव-कर्म होते हैं और जिनमें भावकर्म शेष नही रहते वे दुःख से स्पृष्ट नहीं होते।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध होने के साथ आत्मा कर्म-रहित हो जाता है और सब दुःखों स-मुक्त हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न यह रह जाता है कि कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं ? कर्म स्वयं आत्मा के साथ लगते हैं या ईश्वर की प्रेरणा से ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि–अगर ईश्वर की प्रेरणा से कर्मों का आत्मा के साथ लगना मान लिया जाय तो ईश्वर के स्वरूप मे अनेक विकृतियाँ और बाधाएँ उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ—एक आदमी नदी में डूब रहा हो और उसे बाहर निकाल सकने वाला दूसरा कोई मनुष्य खड़ा-खड़ा देख रहा हो, तो क्या उसे दयालु कहा जा सकता है ? जब ऐसे मनुष्य को भी दयालु नहीं कहा जा सकता

तो फिर परम दयालु कहलाने वाला परमात्मा क्या जीवों को कर्म-बंधन से बाँध कर संसार-सागर में डुबाएगा ? वास्तव में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न वह किसी जीव को कर्मबंधन से बाँधता है। गीता में भी कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

अर्थात्—प्रभु न लोक का कर्त्ता और न कर्मों को उत्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर ईश्वर कर्मों की प्रेरणा नहीं करता तो कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए, एक घड़ा तेल से भीगा हुआ है, दूसरा पानी से भीगा है और तीसरा घडा बिलकुल कोरा है। रज को ज्ञान नहीं होता कि मैं किस घड़े के साथ किस प्रकार लगूँ ? फिर भी जो घड़ा तेल से भीगा है है उसमें रज अधिक चिपकेगी। जो घड़ा पानी से भीगा है, उस पर रज चिपकेगी तो सही, पर तेल के घड़े के बराबर नहीं। और कोरे घडे पर रज गिरेगी मगर हवा से जैसे गिरेगी वैसे ही हवा से उड़ भी जाएगी। इसी प्रकार कर्मरज चौदह राजू लोक में-सर्वत्र भरी पड़ी है। परन्तु भावकर्मों में जितना चिकनापन होगा, उसी के अनुसार कर्म आत्मा के साथ लगेंगे। अगर भाव कर्म में चिकनापन अधिक होगा तो कर्म अधिक लगेंगे, अगर चिकनापन कम होगा तो कर्मवर्गणा कम चिपकेगी। अगर आत्मा कोरे घड़े के समान भावकर्म के चिकनेपन से रहित होगा तो उसमे राग-द्वेष न होंगे तो कर्म चिपकेंगे ही नहीं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्म की व्यवस्था यदि इस प्रकार की है तो कर्मों को उदय मे आने का और सुख-दु:ख रूप मे परिणत होने का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यह है कि क्या दवा को ऐसा ज्ञान है कि मै पेट में जाकर इस प्रकार फेर-फार करूँ ? क्या दूध जानता है कि पेट मे जाकर मै इस प्रकार रस-भाग और खलभाग में परिणत हो जाऊँगा ? ज्ञान न होने पर भी दूध और दवा अपना-अपना गुण बतलाते हैं या नही ? किसी भूखे आदमी को दूध पिलाया जाय तो दूध पीते ही उसकी आँखो में कैसा तेज आ जाता है ! दूध और दवा को इस बात का ज्ञान नही है फिर भी उसमें शक्ति अवश्य है। इसी प्रकार कर्म को यह ज्ञान नहीं है कि मुझमे कैसी शक्ति विद्यमान है, परन्तु जब कर्म आत्मा को लगते है तब वे अपना गुण प्रकट करते ही हैं। भाव-कर्म के चिकनेपन के अनुसार कर्म उदय मे आकर सुख या दु:ख देते है।

कहने का आशय यह है कि दुखी ही दु:ख से स्पृष्ट होता है। कुछ लोगो का कहना है कि आत्मा को कर्मबधन ही नहीं होता, परन्तु जैनशास्त्र को यह कथन मान्य नही है। इसीलिए अर्थात् इस कथन का निषेध करने के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण होने के साथ ही सब दु खों के अन्त होने का कथन किया गया है।

कुछ लोग दु:खों का अन्त करने का अर्थ, बेडी काटने के साथ पैर को भी काट डालने के भावार्थ में करते हैं। उनका कहना है कि दु:खों के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है। मगर यह बात मिथ्या है। आत्मा दु:खो का अन्त होने पर सुखनिधान बन जाता है, नष्ट नही होता।

भगवान् ने कहा है—व्यवदान से आत्मा अक्रिया-अवस्था प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण

पाता है तथा समस्त दुःखों का अन्त करता है। भगवान् के इस कथन को हृदय मे उतार कर हमें अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए। अगर आप कर्मरहित हो गए होते तो अपने लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु हम लोग अभी अपूर्ण हैं और इसीलिए हमें उपदेश सुनने-समझने की आवश्यकता है। श्री आचारांगसूत्र में कहा है—जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली उसे उपदेश सुनने की आवश्यकता नहीं रहती। अपन अभी अपूर्ण हैं, अतः उपदेश सुनकर हमें क्या करना चाहिए, इस बात का गहरा विचार करना आवश्यक है। ज्ञानी और अज्ञानी की रीति नीति में बहुत ही भेद होता है। यह बात सामान्य उदाहरण से समझाता हूँ। मान लीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर बन्दर बैठा है और दूसरी तरफ एक पक्षी बैठा है। इतने में तेज़ तूफान आया और वृक्ष उखड कर गिर पडा। ऐसी स्थिति में दुःख किसे होगा? बन्दर को या पक्षी को? पक्षी तो अपने पंखों के द्वारा ऊपर उड जायगा परन्तु बेचारा बन्दर तो वृक्ष के नीचे कुचल जाएगा। यही बात ज्ञानी और अज्ञानी को लागू होती है। संसार रूपी वृक्ष पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के लोग बैठे हैं। परन्तु संसार वृक्ष नीचे गिरेगा तो ज्ञानी पुरुष पक्षी की भाँति उर्ध्वगमन करेंगे और अज्ञानी उसी संसार वृक्ष के नीचे दब कर दुखी हो जाएँगे।

इस कथन से यह सार लेना है है कि हम शरीर में रहते हुए भी किस प्रकार निर्लेप रह सकते हैं! यह शरीर तो एक दिन छूटने को ही है। मरना सभी को है। परन्तु पक्षी के समान ऊर्ध्वगति करना ठीक है या बन्दर के समान पतित होना ठीक है, इस बात का विचार करो। कहोगे तो यही कि ऐसे अवसर पर पक्षी की तरह ऊर्ध्वगति करना ही योग्य है, परन्तु पक्षी को पख उसी समय

नहीं आ जाते। पहले से ही उसके पंख होते हैं और इसी कारण आवश्यकता पडने पर वह उड जाता है। इसी प्रकार ऐसे अवसर पर आत्मा को उर्ध्वगामी बनाने की पहले से ही तैयारी करो। आग लगने पर कुआ खोदने मे क्या लाभ ? अतः आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की तैयारी पहले से ही करो। शास्त्रकार हमे मोक्ष का मार्ग इसलिए बतलाते हैं कि हम पहले से ही मोक्ष के मार्ग पर चलने का अभ्यास कर सके। शास्त्र मे कही बात हृदय मे उतार कर और उसी के अनुसार आचरण करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। आत्मा ही कर्मरहित होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परमात्मा बन जाता है।

कुछ लोग आत्मा को अलग और परमात्मा को अलग मानते हैं, परन्तु ज्ञानियों की तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा समान ही हैं। कर्मबधन से रहित होकर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। शास्त्र में कहा है—जो आठ कर्मों से बद्ध है वह आत्मा है और आठ कर्मों से मुक्त हो गया वह परमात्मा है। शास्त्र के इस कथन के अनुसार हमारा आत्मा भी आठ कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त हो सकता है। अगर हम आत्मा का कल्याण करना चाहते है तो हमें कर्मबंधन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मबधन मे आत्मा की परतन्त्रता और कर्ममुक्ति मे आत्मा की स्वतंत्रता रही हुई है। अतः आत्मा को कर्मबधन से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही सम्यक् पुरुषार्थ है।

उनतीसवाँ बोल।

सुखसाता

अट्ठाईसवें बोल मे व्यवदान के विषय मे विचार किया गया है। व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने से सुख-साता उत्पन्न होती है और संयम मे शान्ति आती है। अगर संयम मे शांति न आवे तो समझना चाहिए कि व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय ठीक नहीं हुआ। अब सुखसाता के विषय मे भगवान् महावीर से गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न-सुहसाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर-सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुएणं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे, विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! सुखसाता से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—सुखसाता अथवा सुखशय्या से जीव को मन में अनुत्सुकता उत्पन्न होती है। अनुत्सुकता से जीव को अनुकम्पा होती है, अनुकम्पा से निरभिमानता होती है। निरभिमानता से जीव शोकरहित होता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

विवेचन

'सुहसाएणं' इस पाठ का एक अर्थ तो 'सुखसाता' होता है और दूसरा अर्थ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'य' का लोप न करने से 'सुखशय्या' भी होता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुख-शान्ति तो सभी जीव चाहते हैं। और संयम से भी जब सुख-शान्ति प्राप्त होती है तो फिर संयम के के लिए किस प्रकार की सुख-शान्ति का त्याग करना पड़ता है? और संयम से किस प्रकार की सुख-शान्ति मिलती है? हमे यह देखना है कि यहाँ किस प्रकार की सुख-शान्ति का वर्णन किया गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि २६वें बोल मे अर्थात् सुखसाता के बोल में कालक्रम से पाठान्तर हो गया है। इस सम्बन्ध में टीकाकार का कहना है—सुखसाता–सुखसाया–शब्द से यकार का लोप न किया जाय तो 'सुखशय्या' शब्द बनता है। 'सुखशय्या' शब्द का अर्थ है–सुख से सोना। सुखशय्या के चार भेद किये गये है। श्रीस्थानांगसूत्र के चौथे स्थान में भगवान् ने कहा है—हे गौतम! सुखशय्या के चार भेद किये हैं।

पहला भेद मुंड होकर निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति निःशंक रहता है, जो मुँडित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशंक रहता है वह सुखशय्या पर शयन करने वाला है। कितने ही लोग कहते

है कि पहले कषायों का मुंडन करना चाहिए और फिर शिरोमुँडन करना चाहिए। अगर कषायों का भलीभाँति मुंडन कर लिया हो तो शिरोमुँडन न करने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार कहने वाले लोगों से पूछना चाहिए कि कषाय का मुंडन हुआ है अथवा नहीं, इस बात का निर्णय किस प्रकार हो सकता है? कषाय का मुंडन होना अन्तरंग-भाव वस्तु है। इसे व्यवहार में किस तरह जान सकते हैं? अतएव यहाँ मुँड होने का सम्बन्ध शिरोमुंडन के साथ ही है।

सर्वप्रथम व्यवहार साधा जाता है और उसके बाद निश्चय साधा जाता है। लोग अपने व्यवहार में तो यह बात भूलते नहीं किन्तु धर्म के काम में व्यवहार को ताक़ में रखकर निश्चय को ही प्रधान पद देते हैं। ऐसा करना एक प्रकार से धर्म को भूल जाना है। छद्मस्थ के लिए तो व्यवहार ही जानने योग्य है। निश्चय तो ज्ञानी जन ही जानते हैं। अतएव एकदम निश्चय को ही मत पकड़ बैठो, पहले व्यवहार की रक्षा करो।

मान लो कि किसी मनुष्य में साधुता के सभी गुण मौजूद हैं, किन्तु उसका लिंग (वेष) साधु का नहीं है। तो क्या तुम उसे साधु मानकर वन्दना करोगे? साधु का वेष न होने के कारण तुम उसे वन्दना नहीं करोगे। व्यवहार में वेष से ही साधु पहचाना जाता है। श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—'असुचा केवली' अर्थात् केवलज्ञान तो हो गया है, पर वह अन्तरंग है। बाह्य वेष बदला नहीं है अथवा अवसर न होने के कारण बदला नहीं जा सका है, ऐसे केवली को वन्दन करने के लिए श्रावक नहीं जाता। क्योंकि श्रावक उस भावमय वस्तु को जानता नहीं है। इस प्रकार शास्त्र में भी पहले व्यव-

हार की रक्षा की गई है। परन्तु आजकल अनेक लोग निश्चय के नाम पर व्यवहार का उच्छेद करते हैं। तुम कहीं पत्र लिखते हो तो साधुओं के विषय में लिखते हो कि अमुक जगह दस संत विराजमान हैं। पर क्या तुम्हें खातिरी है कि उन दशों साधुओं मे भावसाधुता है ? इस प्रकार व्यवहार में जो साधु का वेष धारण करता है वही साधु माना जाता है। अगर साधुता होने पर भी गृहस्थ का वेष धारण करे तो वह गृहस्थ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि मुंड होने का अर्थ शिरोमुंडन करना है। भगवान् कहते हैं कि जो मुँड होकर निग्रन्थप्रवचन के प्रति निःशंक होता है वह सुखशय्या पर सोने वाला है।

दूसरी सुखशय्या यह है कि, मुँड होकर स्वलाभ मे ही आनन्द मानना और परलाभ की अपेक्षा न रखना। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ के आधार पर आनन्द मानता है, कहा जा सकता है कि वह दुःखशय्या पर सोने वाला है। आज तुम लोगों मे जो दुःख नज़र आ रहा है वह कहाँ से आया है ? इस बात पर विचार करो। मनुस्मृति में कहा है–'सर्वमात्मवशं सुखम्।' अर्थात् स्वाधीनता मे ही सुख है। तुमने सुना होगा—'पराधीन सपने सुख नाहीं।' अर्थात् पराधीन पुरुष को स्वप्न मे भी सुख नहीं हो सकता !

नीतिकारों का यह कथन जानते बूझते हुए भी आज तुम लोग पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हुए हो। स्वयं ही तुमने पराधीनता बुलाई है और इस कारण आज अधिक दुःख फैला हुआ है। आज तुम्हारे अन्दर पराधीनता इतनी पैठ गई है कि तुम्हे स्वाधीनता का विचार तक नहीं आता। मगर एक बात सदा ध्यान मे रखना, सच्चा सुख सदैव स्वाधीनता मे ही है। पराधीनता मे सुख नहीं, दुःख

ही है। इसलिए भगवान् ने कहा है—जो पुरुप स्व-लाभ में ही आनन्द मानता है, पर-लाभ की अपेक्षा नहीं रखता, वही पुरुप सुखशय्या पर शयन करने वाला है।

जो पुरुप भोजन तो खाता है परन्तु भोजन बनाना नहीं जानता, विचार करो कि वह मनुष्य सुखशय्या पर सोने वाला है है या दुःखशय्या पर सोने वाला है? बचपन में मैं भाई-बन्दों के साथ मंगलेश्वर गया था। हम जितने जने गये थे, उनमें से सिर्फ एक आदमी रसोई बनाना जानता था। और किसी को भोजन बनाना नहीं आता था। उस जानकार आदमी ने रसोई बनाई और हम सब ने खाई। वापिस लौटने पर हममें से एक लड़के ने अपनी माता से कहा—'अब अपन कहीं बाहर चलेंगे तो उस रसोई बनाने वाले आदमी को साथ ले चलेंगे।

माता ने उत्तर में कहा—वह रसोई बनाने वाला तुम्हारे बाप का नौकर/नहीं है कि तुम्हारे साथ आएगा।

इस प्रकार जो मनुष्य पराधीन रहता है उसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं और कटुक वचन भी सुनने पड़ते है। इसी कारण भगवान् ने जगत् के जीवों को संबोधन करके पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में सुख बतलाया है। सुखशय्या पर सोना अच्छा है और दुःखशय्या पर सोना दुःखदायक है।

तुम जिन चीजों का सदैव व्यवहार करते हो और जिनके लिए तुम्हें अभिमान है, उनमें से कोई चीज़ ऐसी है जिसे तुम बना सकते हो? अगर बना नहीं सकते तो यह तुम्हारी पराधीनता है या स्वाधीनता? इस पर विचार करो। सिद्धान्त में कहा है—राजकुमार

हो या श्रेष्ठिकुमार हो, प्रत्येक कुमार को ७२ कला सीखना आवश्यक है। ७२ कलाओं में जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली वस्तुएँ बनाने की और उनका उपयोग करने की कला का समावेश हो जाता है। इन ७२ कलाओं को सीख लेने से जीवन पराधीन नहीं रहता, स्वाधीन बन जाता है। यह आश्चर्य और दुःख का विषय है कि आज लोग पराधीन होते हुए भी अभिमान करते हैं। जीवन को स्वतन्त्र बनाने के लिए कलाओं का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

श्री ज्ञातासूत्र मे, मेघकुमार के अध्ययन मे ७२ कलाओं का वर्णन किया गया है। उनमे एक कला अन्नविधि सम्बन्धी है। इस अन्नविधिकला में, अन्न किस प्रकार उत्पन्न करना, किस प्रकार सुरक्षित रखना और किस प्रकार पका कर खाना आदि का शिक्षण आ जाता है। अर्थात् कृषिकर्म के साथ ही कृषि द्वारा उत्पन्न हुई वस्तु की रक्षा और उसके उपयोग की विधि भी मालूम हो जाती है। शास्त्र मे इस कला के भी तीन भेद किये गये है। सर्वप्रथम कला को सूत्र से जानना चाहिए, फिर जानी हुई कला को अर्थ से समझना चाहिए और अन्त मे जानी तथा समझी हुई कला को अमल मे लाना चाहिए।

अगर कोई मनुष्य किसी कला को सूत्र से तो जानता है परन्तु अर्थ से नहीं समझता और कर्म से व्यवहार मे नहीं लाता तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य कला सम्पादन मे अभी अधूरा है। पूर्ण कलाकुशल मनुष्य वही कहा जा सकता जो सूत्र से, अर्थ से और कर्म से कला का सम्पादन करता हो! अन्नविधि की तरह वस्त्रविधि, गृहविधि आदि की भी कला है। ७२ कलाओं का सम्पा-

दन करने वाला मनुष्य ही पहले कलाकुशल कहलाता था। आज तो कलाएँ प्रायः नष्ट हो गई हैं। आज लोग तैयार वस्तुएँ लेकर पराधीन बन रहे हैं, फिर भी तैयार वस्तु लेने में अपने आपको स्वाधीन और निष्पाप मानते हैं। लेकिन शास्त्र का यह कथन है कि परावलम्बी, पराधीन रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और स्वावलम्बी स्वाधीन रहने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है। तुम लोग सुन्दर मकान में रहते हो, मिष्ट भोजन करते हो और अपने आपको सुखी मानते हो। परन्तु तुम इन वस्तुओं के लिए पराधीन हो, अतएव शास्त्रकार तो तुम्हे दुःखशय्या पर सोने वाला ही कहते हैं। शायद ही कोई भील ऐसा हो जो अपनी झौंपड़ी बनाना न जानता हो। मगर तुम जिस मकान में रहते हो, उसे बना सकते हो? अगर नहीं, तो स्वाधीन हो या पराधीन हो? वास्तव में स्वाधीन मनुष्य ही सुखी है और पराधीन मनुष्य ही दुखी है। यही बात दृष्टि में रखकर युधिष्ठिर के महल की अपेक्षा व्यास की झौंपड़ी श्रेष्ठ गिनी गई है।

कहने का आशय यह है कि स्वलाभ में आनन्द मानना और परलाभ की आशा न रखना ही साधु के लिए सुखशय्या है। सुखशय्या पर शयन करने से मन निराकुल बनता है। जो मनुष्य पराधीन परतन्त्र नहीं होता, उसी का मन व्याकुलतारहित होता है। परन्तु तुम लोग परतन्त्र हो और तुम्हारा मन व्याकुल रहता है, फिर भी अपने आपको सुखी मान रहे हो, यह आश्चर्यजनक बात है। मन को व्याकुल न होने देना ही सच्चा सुख है। बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है। इस कथन का सार यह है कि मन की अव्याकुलता ही सुखशय्या है और मन की व्याकुलता ही दुःखशय्या है। सुन्दर महल में रहने पर भी और मिष्ट भोजन करने पर भी अगर मन व्याकुल हुआ तो दुःख उत्पन्न होता है। इसके विपरीत ध्यान की

झोपडी मे रहते हुए भी और रूखा-सूखा भोजन करने पर भी अगर मन निराकुल हुआ तो सुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन की व्याकुलता से दुःख पैदा होता है और मन की अव्याकुलता से सुख पैदा होता है। इसके समर्थन मे आगम मे कहा है—

तं संथारं निसन्नो मुणिवरो नट्ठरागविम्मोहो।
पावइ जं मुत्तिसुहं कुत्तो तं चक्कवट्टीए ? ॥

अर्थात्—घास के बिछौने पर सोने वाले, राग-द्वेष मोह आदि को नष्ट करने वाले मुनिवर जिस आनन्द का उपभोग करते है, वह बेचारे चक्रवर्ती को भी कहाँ नसीब है ?

बाह्य वैभव कैसा ही क्यो न हो, मन अगर व्याकुल रहता है तो दुःख ही समझना चाहिए और बाह्य वैभव थोड़ा हो या न हो किन्तु मन अव्याकुल हो तो सुख ही है, ऐसा मानना चाहिए। इस कथन के अनुसार जो साधु पराधीन है और जिसका मन व्याकुल रहता है वह दुःखी है। जो साधु स्वाधीन है, जो अपना काम आप कर लेता है, और जिसका मन अव्याकुल रहता है, वह सुखशय्या पर सोने वाला है-सुखी है।

पहले के लोग ऐसे थे कि वे प्राण देना कबूल कर लेते थे परन्तु परतन्त्रता स्वीकार नही करते थे। किन्तु संसार परिवर्त्तनशील है, इस कारण अब वह क्रम बदल गया दिखाई देता है और ऐसा जान पडता है कि लोग परतन्त्रता मे ही आनन्द मान रहे हैं।

तीसरी सुखशय्या बतलाते हुए भगवान् कहते है—विषयो का ध्यान भी न करना। आनन्द के लिए विषयो का भोग करना तो दूर, उनका विचार भी न करना तीसरे प्रकार की सुखशय्या है।

चौथी सुखशय्या यह कि चाहे जैसी आपत्ति आ पड़े तो भी आपत्ति के समय सहिष्णुतापूर्वक कष्ट सहन करना और प्रसन्नचित्त रहना। दुःख जब सिर पर आ पडे तो इस प्रकार विचारना—अगर मैं इन दु.खों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करूँगा तो मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा और जो दुःखपूर्वक सहन करूँगा तो कर्मबंध होगा। अनेक महात्मा तो कर्मो की उदीरणा करके दुःखों को समभाव से सहन करते हैं, तो फिर आई हुई विपत्ति से मुझे क्यों घबराना चाहिए? जो दुःख आये हैं वे बिना किये तो आये नही। मैंने दुःखों को जन्म दिया, तभी वे आये हैं। अब, जब दुःख माथे आ पडे हैं तो उन्हे समता के साथ और धैर्यपूर्वक सहना ही चाहिए। धैर्यपूर्वक दुःख सहन करने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है, ऐसा समझना चाहिए।

सुखसाता के पाठान्तर के विषय में यहाँ विचार किया गया है। सूत्र मे आये 'सुहसाया' शब्द के सुखसाता और सुखशय्या दोनो अर्थ किये जाते हैं। सुखशय्या के चार भेद करके उनका जो विवेचन किया गया है उस सब का सार यह है कि वास्तव में बाहर के पदार्थों से सुख नहीं है। सुख तो अन्दर ही है। सुख स्वाधीनता में है, पराधीनता में नही। जितनी-जितनी पराधीनता बढती है, उतना ही दु.ख बढता जाता है। इसके विपरीत जो जितना स्वाधीन है वह उतना ही सुखी है। लोग भी कहते तो हैं कि पराधीनता में दु.ख और स्वाधीनता मे सुख है, परन्तु व्यवहार में यह बात भूल जाते हैं। परतन्त्र रहना बालदशा है। जो तुम्हारे सच्चे हितैषी होंगे वे तुम्हें इस बालदशा से बाहर निकालने का ही प्रयत्न करेंगे। अगर तुम बालदशा से बाहर निकलना चाहते हो तो स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो। तुम मोटर में बैठते तो हो पर मोटर बनाना या चलाना नहीं

जानते। ड्राइवर मोटर चलाता है किन्तु वह गड्हे में गिरा दे तो ? इस तरह इन बातों पर ध्यान रखकर पराधीनता हटाओ और स्वतंत्र बनो। आखिर स्वतन्त्र बनने में ही सुख है।

कदाचित् तुम कहोगे कि तैयार चीज लेने से तथा व्यवहार करने से पाप नहीं लगता। अतएव अपने हाथ से कोई चीज़ बनाने की अपेक्षा तैयार चीज़ लेना ही उचित है। इसके उत्तर में श्रावकों का वर्णन करते हुए शास्त्र में कहा गया है—

'धम्मिया, धम्मियाणंदा, धम्मोवएसगा, धम्मेण च वित्तिं कप्पमाणे विहरइ।'

अर्थात्—श्रावक धर्मी होता है। धर्म में आनन्द माननेवाला होता है, धर्म का उपदेशक होता है और धर्मपूर्वक आजीविका करता हुआ विचरता है।

अब यहाँ विचार करो कि धर्मपूर्वक आजीविका करने का अर्थ क्या है ? क्या श्रावक भिक्षाचरी करता है ? श्रावक जब तक ग्यारह प्रतिमाधारी नहीं बनता, तब तक भिक्षा नहीं कर सकता। भिक्षा के तीन प्रकार हैं। पहली सर्वसम्पत्तिकरी भिक्षा, दूसरी वृत्ति-भिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है।

जो महात्मा संयम का पालन करते हैं और केवल संयम की रक्षा के लिए ही शरीर का निर्वाह करने जितनी भिक्षा लेते हैं, वह भिक्षा सर्वसंपत्तिकारी कहलाती है। भगवान ने साधुओं को अपना शरीर नष्ट करने की आज्ञा नहीं दी है। साधु केवल शरीरनिर्वाह के लिए और धर्माचरण करने के लिए ही भिक्षा लेते है। यह भिक्षा

सर्वसम्पत्तिकारी होती है। जो भिक्षु सम्यक् प्रकार से साधुधर्म का पालन नहीं करता, उसे भिक्षा मांगने का अधिकार नहीं है। जो भिक्षु निरारंभी और निष्परिग्रह रहकर साधुधर्म का बराबर पालन करता है, उसी को भिक्षा माँगने का अधिकार है। जो भिक्षु संयम का पालन नहीं करता और केवल पेटपूर्ति के लिए भिक्षा माँगता है, शास्त्र में उसे 'गामपिंडोलिया' कहा है।

कितनेक लोग साधुधर्म का पालन न करते हुए भी सिर्फ पेट भरने के लिए साधु बन जाते हैं। ऐसे पेटू साधु समाज के लिए भार रूप हैं। भारत में ऐसे साधु करीब बावन लाख हैं। इन बावन लाख साधुओं के लिए भारत को कितना खर्च वहन करना पड़ता है? लोगों से भिक्षा माँग माँग कर खाना और साधुधर्म का पालन न करना बहुत ही बुरी बात है। बहुत-से लोग इन पेटू साधुओं को भी गुरु-बुद्धि से मानते हैं। यह विषम काल का ही प्रभाव है। विषमकाल कैसा होता है, यह बतलाते हुए शास्त्र में कहा है—विषम-काल में साधुओं की पूजा नहीं होती और असाधुओं की पूजा होती है। परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण करना चाहते होंगे, वे तो साधुधर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की ही पूजा करेंगे और उसी को गुरु के रूप में मानेंगे।

दूसरी वृत्तिभिक्षा है। लूले, लँगड़े या अपंग लोग जो भीख माँगते हैं, वह वृत्तिभिक्षा कहलाती है। इस वृत्तिभिक्षा की न निन्दा की गई है और न प्रशंसा ही की गई है। दयालु लोग दया करके देते हैं और दया को कोई बुरा नहीं कहता।

तीसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है। जो लोग हृष्टपुष्ट हैं और जो मेहनत करके कमा सकते हैं, फिर भी मिहनत-मजूरी न करके बल भीख माँग कर खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषघ्नी है।

कहने का आशय यह है कि श्रावक धर्मपूर्वक आजीविका करने वाले कहे गए हैं। गृहस्थ श्रावक भिक्षा माँगकर नहीं खाते, वरन् धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं। श्रावक न्यायपूर्वक आजीविका करते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करते थे। उस समय के श्रावक स्वावलम्बी थे। तुम भी अपने पूर्वज श्रावकों के चरण-चिह्नों पर चलकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करो। स्वावलम्बन में सुख है। परावलम्बन में दुःख है।

संसार के सभी लोग सुखशय्या चाहते हैं किन्तु सुख के नाम पर दुःखशय्या को अपना रहे हैं और दुःखशय्या के नाम पर सुखशय्या छोड़ रहे हैं। परन्तु भगवान् ने कहा है कि जो स्वाधीन है और जिसका मन निराकुल है, वही सुखशय्या पर सो सकता है। मन को निराकुल बना देने से व्यावहारिक लाभ भी होता है और आध्यात्मिक लाभ भी होता है। पराधीन मनुष्य दुःखशय्या पर सोने वाला है। स्वाधीनता का मार्ग छोड़ देना और परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ जाना, सुखशय्या त्याग करके दुःखशय्या पर सोने के समान है।

एक कहावत है—'अपनी नींद सोना और अपनी नींद जगना' इस कहावत का सार यही है कि कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि जिसकी चिन्ता के मारे रात में नींद तक न आवे, परन्तु ऐसा सत्कार्य करना कि जिससे सुखपूर्वक निद्रा आवे। इसी प्रकार भगवान् ने साधुओं के लिए कहा है कि—हे साधुओ! तुम पेटपूर्ति के लिए साधु नहीं हुए हो, परन्तु आत्मोद्धार करने के लिए, स्व-पर कल्याण करने के लिए साधु हुए हो। अतएव दुःखशय्या का त्याग करके सुखशय्या पर सोने का प्रयत्न करो।

सुखशय्या पर सोने के लिए तो कहा, परन्तु सुखशय्या पर सोने से जीव को क्या लाभ होता है ? ऐसा गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न पूछा। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया–'सुहसाएण अणुस्सुयत्तं जणयइ।' अर्थात् हे गौतम ! सुखशय्या पर सोने से मन की अव्याकुलता उत्पन्न होती है अर्थात् मन में अनुत्सुकता पैदा होती है।

मन में अव्याकुलता किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसके लिए टीकाकार कहते हैं—जिन कारणों से मन में आघात-व्याघात या प्रत्याघात होता है, उन कारणों को तज देने से मन में निराकुलता या अनुत्सुकता पैदा होती है। मन में निराकुलता उत्पन्न होना ही सुखशय्या का परिणाम है। जैसे आग के कारण पानी में उबाल आता है, और आग के ऊपर से पानी उतार लेने पर पानी नहीं उबलता, उसी प्रकार जिन कारणों से मन में चिन्ता या व्याकुलता बढ़ती है, उन कारणों का त्याग कर देने से मन निश्चिन्त और निराकुल बन जाता है। मन के निराकुल बन जाने से मन की चंचलता घट जाती है अथवा मिट जाती है और फलस्वरूप आत्मा को शान्ति मिलती है। जो पुरुष दूसरों की आशा या अपेक्षा नहीं रखता और स्व सम्बन्धी कामभोगों की भी अभिलाषा नहीं करता, उस पुरुष के हृदय में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं रहती। जो मनुष्य विषय-सुख को विषमय और तुच्छ मानता है, उसके मन में आकुलता-व्याकुलता रह नहीं पाती।

विषयसुख की इच्छा न करने से मन अनुत्सुक बनता है। मन अनुत्सुक बनने से अर्थात् विषयसुख की इच्छा न होने से हृदय

में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए कहा है—'अनुकूलं कम्पन-चेष्टनं अनुकम्पा।' अर्थात् दूसरे का दुःख देखकर काँप उठना और दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख समझना अनुकम्पा है। इस प्रकार की अनुकम्पा विषय-सुख के इच्छुक के मन में नहीं उत्पन्न होती। विषयसुख की इच्छा न रखने वाले को ही ऐसी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। विषयसुख का अभिलाषी तो अपने विषयसुख को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता है, फिर दूसरे लोग चाहे जीएँ, चाहे मरें। जो विषयसुख का त्यागी है, उसके हृदय में दूसरे को दुःखी देखकर अनुकम्पा पैदा होती है। दूसरों के दुख से उसका हृदय काँप उठता है।

आजकल तो दयालु पुरुष को कायर कहते है, परन्तु शास्त्र के अनुसार हृदय में अनुकम्पा-दया होना सद्‌गुण है। जिन लोगों में विषयसुख की लालसा नहीं रहती उन्हीं में यह सद्‌गुण पाया जाता है। जिनमे विषयसुख भोगने की लालसा बनी हुई है, उनमें दया या अनुकम्पा नहीं होती। उदाहरणार्थ—कोई कसाई बकरे को मारता हो तो उस समय तुम्हारे हृदय में दया उत्पन्न हो यह स्वाभाविक है। परन्तु उस कसाई को दया नहीं, क्योंकि उसे बकरे का मांस खाने की लालसा है। अगर उसमें बकरे का मांस खाने की लालसा न होती तो उसके हृदय मे भी अनुकम्पा या दया उत्पन्न होती। अनुकम्पा के विषय मे शास्त्र में भी कहा है—

एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावत्तं वियाणिया॥

—सूयगडांगसूत्र।

अर्थात्—किसी भी जीव की हिंसा न करना ही शास्त्र का सार है। ज्ञानी जन अहिंसा-अनुकम्पा को ही सिद्धान्त का सार कहते हैं। शास्त्र सुनने पर भी जिस मनुष्य के हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न न हुई, अत' जो निर्दय होकर अपने घर में भी अनुकम्पा का व्यवहार नहीं करता, उसने शास्त्र नहीं सुना वल्कि समझना चाहिए उसने शस्त्र का प्रयोग करना सीखा है।

मेघकुमार के शास्त्रीय उदाहरण के अनुसार एक खरगोश को बचाने के खातिर हाथी एक पैर ऊँचा करके बीस पहर तक खड़ा रहा था। बीस पहर बाद जब दावानल शान्त हुआ और मंडल में आये हुए जीव बाहर चले गए तो हाथी अपना पैर नीचे रखने लगा। मगर बीस पहर तक पैर ऊँचा रखने के कारण उसका पैर रह गया था और वह जमीन पर गिर पड़ा। गिर जाने पर भी हाथी ने अनुकम्पा के विषय में तनिक भी बुरा विचार न किया। उसने यह नहीं सोचा कि खरगोश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध था कि उसे बचाने के लिए मैंने पैर ऊपर रखकर इतना कष्ट सहन किया! भगवान् ने कहा है—हे मेघकुमार! इस प्रकार की अनुकम्पा रखने के कारण ही तू हाथी पर्याय से छूटकर राजा श्रेणिक के घर राजकुमार रूप में जन्मा और संयम धारण कर सका है।

कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य विषय-सुख के प्रति निस्पृह होता है, उसी में अनुकम्पा का होना देखा जाता है। [illegible] जो बारीक, चिकने और मुलायम वस्त्र पहनते हैं, उनमें लगाई जाने वाली चर्बी के लिए कितने जीव मारे जाते हैं? किसी दिन इस पर विचार किया है? विचार क्यों नहीं करते? इसीलिए [illegible] रेशमी और मुलायम वस्त्रों के प्रति तुम निस्पृह नहीं है

विषयलालसा छूटती नहीं तब तक अनुकम्पा उत्पन्न होती नहीं। जब प्राणी मात्र के प्रति आत्मभाव उत्पन्न होता है तभी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिए—

ऐसी मति हो जाय, दयामय, ऐसी मति हो जाय।
औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूं उपाय,
अपने दुख सब सहूँ किन्तु पर दुःख नहीं देखा जाय॥

अर्थात्—हे प्रभो! मुझमे ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न हो कि मै दूसरों के दुःख को अपना ही दुःख मानूँ और दूसरो के सुख को अपना सुख समझूं। इस प्रकार की सन्मति सब मे उत्पन्न हो जाए तो विश्वप्रेम फैल जाए। विश्वप्रेम की जननी अनुकम्पा है। अनुकम्पा पैदा करने के लिए विषयसुख के प्रति निस्पृह बनो। जब तुम्हारे हृदय में से विषय सुख की लालसा दूर होगी, तब हृदय मे अनुकम्पा के अंकुर फूट निकलेंगे। उस समय तुम दयापात्र बनने के बदले दयामय बन जाओगे। विश्वप्रेम उत्पन्न करने के लिए तुम दूसरों के सुख मे सुख और दुःख मे दुःख मानोगे तो स्व-पर का कल्याण ही करोगे।

किसी भी कार्य का फल जान लेने से उसमे जल्दी प्रवृत्ति होती है। जब तक किसी कार्य का फल न जान लिया जाय तब तक किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति नहीं होती। व्यवहार मे भी देख-भाल कर ही प्रवृत्ति की जाती है। जब तुम्हे यह खातिरी होती है कि हम जो रुपया दे रहे हैं वह व्याज सहित वापिस मिल जायगा, तो तुम रुपया देने मे ढील नहीं करते। इसके विपरीत अगर तुम्हे मालूम हो जाय

कि हमारा दिया हुआ रुपया वसूल नहीं होगा, तो इस दशा मे तुम रुपया नहीं दोगे, यह स्वाभाविक है। महान् से महान् चक्रवर्ती भी फल की आशा से ही अपनी सम्पदा का त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान से यह प्रश्न पूछा गया है कि विषय-सुख की आसक्ति का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—विषयसुख का त्याग करने से विषयभोग के प्रति अनुत्सुकता उत्पन्न होती है, अर्थात विषयसुख भोगने की उत्सुकता या इच्छा नहीं रहती। जिसने आम खाने का त्याग कर दिया है उसे आम खाने की उत्सुकता नहीं रहती। इसी प्रकार विषयसुखों का त्याग करने से विषयों के प्रति उत्सुकता या चचलता नहीं रहती। त्याग न किया जाय तो उत्सुकता या चचलता बनी ही रहती है।

रामायण के कथनानुसार जब सूर्पणखा ने रावण के सामने राम और लक्ष्मण के गुणों का वर्णन किया तो रावण के हृदय में किसी तरह की उत्सुकता या चचलता उत्पन्न न हुई, परन्तु जब उसने सीता के रूप का बखान किया तो रावण के हृदय मे इस प्रकार की चचलता पैदा हो गई कि जो सीता ससार की स्त्रियों मे शिरोमणि बतलाई जाती है, उसे मुझे देख तो लेना चाहिए। इसी चचलता के कारण घोर अनर्थ हुआ। रावण अगर पहले से ही विषयसुख या परस्त्री का त्यागी होता तो उसके हृदय में इस प्रकार की चचलता पैदा न होती। और तब ऐसा अनर्थ भी क्यों होता?

इस प्रकार विषयसुख का त्याग करने से चंचलता मिट जाती है। चंचलता हट जाना और अनुत्सुकता पैदा होना त्याग का

लक्षण है। त्याग करने पर अगर चचलता या उत्सुकता बनी हुई हो तो समझना चाहिए कि सच्चा त्याग अभी हुआ ही नहीं है। सच्चा त्याग तब समझना चाहिए जब हृदय में तनिक भी चचलता न रह जावे। भगवान का कथन है कि चंचलता मिट जाने से और स्थिरभाव उत्पन्न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है, अनुकपा कितना श्रेष्ठ गुण है, इस विषय में कहा गया है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

अर्थात्—दया-अनुकम्पा ही धर्म का मूल है। अनुकम्पा को सभी ने धर्म बतलाया है। जिसमे विषयसुख की लालसा नहीं होती उसे ही इस श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है।

साधारण तौर पर प्रत्येक व्यक्ति मे, न्यूनाधिक परिमाण मे अनुकम्पा का गुण विद्यमान रहता है। परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय में चंचलता आती है तब अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ—गाय किसी को, यहाँ तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी जब कसाई के दिल में स्वार्थ के कारण तथा विषय लालसा के कारण चंचलता उत्पन्न होती है तब वह निर्दयता के साथ गाय को कत्ल कर डालता है। विषयलालसा के कारण हृदय मे चचलता उत्पन्न होती है और चचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता या सर्वथा नष्ट हो जाता है, ऐसा क्रम है।

विचार करो कि तुम्हारे दिल में पशुओं के प्रति सच्ची दया है या केवल दया का दिखावा मात्र है ? अगर तुम्हारे हृदय मे सच्ची दया हो तो क्या तुम ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कर सकते हो जिनके खातिर पशुओं की हत्या की जाती है ? तुम यों तो

गाय को नहीं मारोगे परन्तु तुम्हारे सामने गाय के चमड़े के बने सुन्दर और मुलायम बूट रक्खे जाएँ अथवा गाय की चर्बी वाले कपड़े तुम्हे दिये जाएँ तो उन्हे उपयोग करने के लिए लोगे या नहीं? प्रत्यक्ष में तो तुम गाय को माता कहोगे, मगर यह नहीं देखोगे कि तुम्हारे लिए गाय माता की हालत कितनी भयंकर हो रही है? क्या कभी तुमने सोचा है कि तुम जो मुलायम बूट पहनते हो वे किसके चमड़े के बनते हैं?

तुम कह सकते हो कि जूता पहन बिना काम नहीं चलता मगर भारतवर्ष में पहले चमड़े के खातिर कभी भी पशुओं का घात नहीं किया जाता था। जो पशु स्वाभाविक मौत से मर जाते थे, उन्हीं के चमड़े के जूते बनाए जाते थे। आजकल तो विशेष तौर से चमड़े के लिए ही पशु मारे जाते है। इतना ही नहीं, वरन चमड़े को सुन्दर और मुलायम बनाने के उद्देश्य से पशुओं की बड़ी ही निर्दयता के साथ हत्या की जाती है। क्या तुम लोगो ने ऐसे सुन्दर और मुलायम चमड़े की बनी चीजो का त्याग किया है? अगर त्याग नहीं किया तो क्या तुम्हारे दिल मे पशुओ के प्रति दया का भाव है?

कल्पना करो, तुम्हारे सामने द्रौपदी को नग्न किया जाय और उसके शरीर पर से उतारे हुए वस्त्र, कोट, कमीज बनवाने के लिए तुम्हें दिये जाएँ तो क्या तुम उन वस्त्रों को हाथ भी लगाओगे? तुम उस समय यही कहोगे कि जिन वस्त्रों के लिए द्रौपदी माता को नग्न किया गया है, उन्हे हम छू भी कैसे सकते है? इस प्रकार कह कर तुम उन वस्त्रो का उपयोग नहीं करोगे। मगर तुम्हारी मातृभूमि को हानि पहुँचाने वाले जो वस्त्र तुम्हें दिये जाते हैं, उन्हें लेने का तुमने त्याग किया है? तुमने विलायती वस्त्रों का और

चमड़े का त्याग नहीं किया, इसका एक प्रधान कारण यही है कि अभी तक तुम्हारे हृदय में अनुकम्पा का भाव ही उदित नहीं हुआ है। अगर सच्ची अनुकम्पा तुम्हारे हृदय में उत्पन्न हो जाती तो ऐसी हिंसामूलक वस्तुओं का तुम स्पर्श तक न करते।

भगवान् कहते हैं कि हृदय में अनुकम्पा का भाव पैदा होने से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता आती है। अनुकम्पा से हृदय नम्र बन जाता है और नम्र हृदय मे अभिमान उत्पन्न नहीं होता। अनुकम्पाशील मनुष्य में 'मैं बड़ा हूँ, मैं यह काम कैसे करूँ?' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नहीं होता। अनुकम्पा वाला मनुष्य दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख मानता है और दूसरे का दुःख मिटना अपना दुःख मिटना समझता है। वही सच्ची अनुकम्पा है जिसमें अभिमान या लालसा को स्थान न हो। जहाँ किसी भी प्रकार की लालसा होती है वहाँ विशुद्ध अनुकम्पा नहीं।

आजकल कितने ही लोग अनुकम्पा के नाम पर दान तो करते हैं परन्तु साथ ही साथ अपने आप को दानी कहलाने के लिए अखबारों में, बड़े-बडे अक्षरों में, अपने दान की घोषणा छपवाते हैं। क्या यह अनुकम्पा और दान है? वास्तव में देखा जाय तो सच्ची अनुकम्पा न होने के कारण ही प्रसिद्धि की इच्छा रहती है। हृदय में सच्ची अनुकम्पा हो तो नाम की इच्छा नहीं होती।

आनन्द श्रावक के पास बारह करोड़ स्वर्ण-मोहरों का धन था। उनमें से वह चार करोड़ स्वर्ण मोहरों से व्यापार करता था। उसके पास चालीस हजार गायें थीं। जब उसने भगवान् के दर्शन किये तो भगवान का उपदेश सुनकर उसने यह प्रतिज्ञा करली कि

में अब धन आदि की वृद्धि नहीं करूँगा। इस प्रतिज्ञा के पश्चात भी उसका चार करोड़ मोहरों का व्यापार चालू रहा और चालीस हजार गायें भी बनी रहीं। गायों में वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी उसका त्याग भंग नहीं हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। शास्त्र में ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है कि किस कारण उसकी सम्पत्ति मे और उसकी गायों में वृद्धि नहीं हुई ? और कैसे उसका त्याग भग नहीं हुआ ? परन्तु इसके कारण पर विचार करने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द श्रावक बिना मुनाफे का व्यापार करता था अथवा बढ़ी हुई सम्पत्ति दान में देता था। उसे कोई मनुष्य गरीब दिखाई देता तो उसे गाय दान कर देता था। इस प्रकार उसकी सम्पत्ति तथा गायों का परिमाण भी बराबर रहता और त्याग की रक्षा के साथ दान आदि धर्म का भी पालन हो जाता था।

कहने का आशय यह है कि आनन्द श्रावक ने दानी होते हुए भी दानियों की नामावली में अपना नाम प्रसिद्ध नहीं किया था। इतना ही नहीं, वरन शास्त्र में उसके इस दान का वर्णन तक नहीं किया गया है। मगर यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि जब उसका त्याग भी सुरक्षित रहा और व्यापार आदि की मर्यादा भी बराबर कायम रही, तब बढ़ी हुई सम्पत्ति का सिवाय दान के और क्या उपयोग हो सकता था ? जिस मनुष्य में सच्ची अनुकम्पा होती है, वह दान भी गुप्त रूप से ही देता है और दान देकर अभिमान नहीं करता। वह अपने नाम की प्रसिद्धि भी नहीं चाहता।

तुम लोग गाय की सेवा करके दूध पीते हो या बाजार से खरीदा हुआ पीते हो ? तुम गाय की सेवा किये बिना ही दूध पीते हो फिर भी अपने आपको अनुकम्पा वाला कहलवाते हो ? क्या

बिकी का दूध पीने मे अनुकम्पा है ? शास्त्रकार इसे अनुकम्पा नहीं कहते। ऐसी दशा मे भी आज किसके घर में गायें है ? आज कौन मोल खरीद कर दूध नहीं पीता ? स्त्रियाँ तो कह देगी कि हम अपनी सेवा करे या गायो की सेवा करें ? हम अपना सिंगार सजे अथवा गायों का गोबर और पेशाब उठाएँ ? जहाँ ऐसी भावना है वहाँ अनुकम्पा का गुज़ारा कहाँ ? सुना है, गाँधीजी ने भारत की गायो की दुर्दशा देखकर गाय का दूध पीना ही छोड़ दिया है। तुम लोग गाय का दूध तो पीते हो, मगर गाय की सेवा नहीं करते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि तुममे अनुकम्पा का अभाव है।

कहने का आशय यह है कि विषयसुख की लालसा का त्याग करने मे अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता पैदा होती है। जिसमें निरभिमानता प्रकट हो जाती है उसमें किसी प्रकार का शोक, संताप या किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। जिसमे सच्ची अनुकम्पा होती है उसे हानि होने पर चिन्ता नहीं होती। मान लीजिए, किसी व्यापारी ने रूई की गाठों का बीमा उतरा लिया है। अब कदाचित् उन गांठो मे आग लग जाय तो क्या उस व्यापारी को चिन्ता होगी ? वह तो यही कहेगा कि मेरा क्या बिगड़ा ? मैंने तो पहले ही बीमा उतरा लिया है। इसी प्रकार जिसके हृदय मे सच्ची अनुकम्पा होती है, वह मनुष्य अपनी समस्त वस्तुएँ परमात्मा को समर्पित कर देता है और इसी कारण किसी भी वस्तु का नाश होने पर भी उसे चिन्ता नहीं होती। इतना ही नहीं, अपने प्राण तक चले जाने पर भी अनुकम्पाशील मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती। कहा भी है:—

चाहत जीव सबै जग जीवन,
देह समान नहीं कछु प्यारो,
संयमवन्त मुनीश्वर को,
उपसर्ग हुए तन नाशन हारो।
तो चिन्तै हम आतमराम,
अखंड अबाधित रूप हमारो,
देह विनाशिक सो हम तो—
नहिं शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो॥

संसार का कोई भी प्राणी अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि देह सभी को प्रिय है। देह के बराबर अन्य कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। ऐसा होने पर भी संयमवंत मुनीश्वर देहान्तकारी कष्ट उपस्थित होने पर भी चिन्ता नहीं करते। वे इसी प्रकार विचार करते हैं कि—हमारा देह अलग है और आत्मा अलग है। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रक्खी गई, खन्दक मुनि की चमड़ी उधेड़ ली गई और पाँच सौ मुनि कोल्हू में पेर दिये गये, फिर भी उन मुनीश्वरों को किसी प्रकार की चिन्ता न हुई। कारण यह है कि वे मुनिराज आत्मा और शरीर को भिन्न भिन्न मानते थे। इस प्रकार शोकरहित होने का कारण अनुकम्पा है। अनुकम्पा होने के कारण ही मुनीश्वरों को देहान्त कष्ट पड़ने पर भी चिन्ता पैदा न हुई। उन्होंने अपना शरीर पहले ही परमात्मा को समर्पित कर रक्खा था।

सुख साता के प्रश्नोत्तर में भगवान् ने कार्य कारणभाव बतलाया है। भगवान् ने कहा है—विषयलालसा न होने से अनुत्सु-

कता (विषयों के प्रति अनासक्ति) उत्पन्न होती है, अनुत्सुकता से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से जीव मे निरभिमानता आती है, निरभिमानता से जीव शोकरहित बनता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके मोक्षप्राप्त करता है।

शास्त्र में मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय तो वस्तु का सम्यक् स्वरूप समझने मे बाधक होता है और चारित्रमोहनीय कर्म वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर भी उस समझ के अनुसार आचरण करने मे बाधक बनता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तदनुसार आचरण नही किया जा सकता। चारित्र-मोहनीय कर्म नष्ट होने पर ही चारित्र प्रकट होता है। अगर संकल्प विकल्प न मिटे तो समझना चाहिए कि अभी तक चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट नही हुआ है। संकल्प- विकल्प के मिट जाने पर वास्तविक चारित्र प्रकट होता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार विषयलालसा को दूर करने से आत्मा गुणक्रमारोहण करके सिद्धि प्राप्त करता है। यही मुक्ति का मार्ग है। शास्त्रकार कहते है कि मोक्ष का मार्ग सरल तो है मगर इस मार्ग पर जाने के लिए विषयलालसा आदि जो कांटे बिखरे पड़े है, उन्हें सर्वप्रथम दूर करने की आवश्यकता है। विषयलालसा को जीत लिया जाय तो मुक्ति के मार्ग पर चलना सरल है। गीता में भी कहा है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भारतर्षभ !

अर्थात्—हे अर्जुन! पहले इन्द्रियों की विषयलालसा जीत लो। विषयलालसा को जीत लेने से तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

मुक्ति के मार्ग पर जाने के लिए, तुम लोग भी सर्वप्रथम इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करो। अगर तुम प्रारम्भ में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करोगे तो क्रमशः मुक्ति भी प्राप्त कर सकोगे। परम्परा से मिलने वाले फल को प्राप्त करने के लिए सब से पहले प्रारंभिक कार्य करना चाहिए। किसान को फल तो बाद में प्राप्त होता है, पर बीज के आरोपण करने का कार्य उसे पहले ही करना पड़ता है। अगर वह प्राथमिक कार्य-बीज का आरोपण न करे तो धान्य का लाभ उसे कैसे हो सकता है? इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय पाना आवश्यक है। अगर विषयलालसा जीत ली जाय और चंचलता का त्याग कर जीवन में अनुकम्पा उतारी जाय तो आत्मा का कल्याण हो और मुक्ति का मार्ग भी खुल जाय।

तीसवाँ बोल ।

अप्रतिबद्धता

उनतीसवे बोल में सुखशय्या अथवा सुख साता के संबंध मे काफी विचार किया जा चुका है। अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है? जिस व्यक्ति में विषयलोलुपता नहीं है और जिसमे प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नहीं है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है। अतएव गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते है कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

मूलपाठ

प्रश्न–अपडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?

उत्तर–अपडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राओ वा असज्जमाणे अपडिबद्धे आवि विहरइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—अनासक्ति से जीव निःसंग अर्थात् राग-द्वेष-ममत्व से रहित होता है, और निःसंग होने से उसका चित्त दिन-रात धर्म-ध्यान में एकाग्र रहता है और एकाग्र होने से वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर स्थिर नहीं रहता। वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है। सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रखता। 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लंघन करके रहने में काल से और किसी के प्रति मन में राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिबंध नहीं रखता। इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी प्रतिबंधों से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह बात भलीभाँति हृदय में उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उतर कर विचार किया जाय तो अप्रतिबद्धता शब्द में और उसके भाव में गूढ़ अर्थ छिपा है। अप्रतिबद्धता का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना। जो व्यक्ति

पंकज के समान जगत् के समस्त पदार्थों मे अलिप्त रहता है, वह अप्रतिबद्ध या अनासक्त कहलाता है। पंकज अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला कमल। कमल कीचड में पैदा होकर भी कीचड़ से अलिप्त रहता है। अगर कमल कीचड़ से प्रतिबद्ध हो जाय तो उसका विकास ही न हो–वह सड़ जाय। इसी प्रकार वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रतिबंध से आत्मा का विकास रुक जाता है और जब आत्मा अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है तो उसका अधिकाधिक विकास होता है।

शास्त्र के इस कथन से तुम अपने विषय में विचार कर सकते हो कि तुम्हें यह मनुष्य जन्म किस प्रकार मिला है और किस प्रकार इसका सदुपयोग करना चाहिए? विचार करो कि यह मनुष्य-भव तुम्हे प्रतिबंध को मजबूत करने के लिए मिला है या प्रतिबंध तोड़ने के लिए मिला है? श्री सूत्रकृतांग सूत्र में इस विषय में कहा है–

जेसिं कुले समुप्पण्णे जेसि वा संवसे नरे।
ममाइ लुप्पइ बाले अन्नमन्नेणं मुच्छिए॥

सु-१-अ-१-उ-१-गा-४

इस सूत्र के अनुसार आत्मा जिस कुल मे उत्पन्न होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है, उसी के साथ ममत्व उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ममता उत्पन्न होने के दो कारण हैं—एक जन्म और दूसरा सहवास। तात्पर्य यह है कि एक तो जन्मजनित स्नेह उत्पन्न होता है और संगजनित। यह दोनों प्रकार के स्नेह ममत्व के कारण हैं। शास्त्र कहता है, दोनों प्रकार के स्नेह से उत्पन्न होने वाला ममत्व आत्मा के लिए बंधनकारक है। आत्मा अजर-अमर है। उसका कोई बंधन होना ही नहीं चाहिए।

ज्ञानीजन कहते हैं—हे जीव ! तू इस बात का विचार कर कि तू इस संसार में बंधन तोड़ने आया है या बंधनों मे बँधने के लिए आया है ? जेलखाने में कैदी बेड़ी पहनता है सो सजा कम करने के लिए या बढ़ाने के लिए ? इसी प्रकार हे जीव ! तू संसार रूपी इस जेलखाने में आया है और कुल तथा पत्नी आदि को बेड़ी तुझे पहनाई गई है। अब तू इस बेड़ी के बंधन से छूटना चाहता है या अधिक बँधना चाहता है ? अरे ! यह मनुष्यजीवन बेड़ी काटने के लिए मिला है ! और बार-बार यह सुअवसर मिलना कठिन है। इस आत्मा को मनुष्यजन्म का कैसा दुर्लभ अवसर मिला है, इस सम्बन्ध में श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है.—

> कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइओ।
> जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं ॥
>
> उत्त०—३-७

इस गाथा का भाव यह है कि—हे आत्मा ! तू किन्हीं प्रधान-प्रशस्त कर्मों के कारण ही धीरे-धीरे यह स्थिति प्राप्त कर सका है। अगर प्रधान कर्म न होते तो गर्भ में जीवित रहना ही कितना कठिन है, यह विचार कर देख। तेरे साथ ही दूसरे नौ लाख प्राणी जन्मे थे। मगर उन सब मे से तू ही अकेला जीवित बच सका। अगर तुझे पुण्य का योग न मिला होता तो तेरी भी वही दशा होती जो तेरे नौ लाख साथियों की हुई। तू भी मर कर समाप्त जाता। केवल पुण्य के प्रभाव से ही तू बच पाया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि नौ लाख जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जावरा में एक डाक्टर के

सत्कार्य के प्रताप से मनुष्यजन्म मिला है। इस विषय में तुलसी-दास ने कहा है—

चतुराई चूल्हे पड़ो, धिग धिग पड़ो आचार।
तुलसी हरि के भजन बिन, चारों वर्ण चमार॥

अर्थात्—जो व्यक्ति, चाहे वह उच्च कुल में जन्मा हो या नीच कुल मे उत्पन्न हुआ हो, अगर परमात्मा का भजन नहीं करता तो वह चमार के समान है।

तुलसीदासजी के इस कथन पर तुम कह सकते हो कि ब्राह्मण चमार कैसे हो सकता है? अथवा हम चमार कैसे बन सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे सब से पहले यही कहना है कि चमार क्या करता है, सो देखो। चमार चमड़े को पकाता है, रंगता है, साफ़ करता है, और फिर जूता बनाकर तुम्हारे सामने रख देता है। अब तुम परमात्मा का भजन न करके क्या करते हो, सो विचार करो। तुम तेल और साबुन कहाँ मलते हो? शरीर पर ही तेल-साबुन लगाते हो न? यह शरीर क्या है? चमड़ा ही। चमार जो चमड़ा तैयार करता है, उससे दूसरो की रक्षा भी होती है और वह जो कुछ करता है, दूसरो की रक्षा के लिए करता है। मगर तुम्हारे इस शरीर के चमड़े से दूसरों का क्या हित होता है? जो चमार दूसरो के लिए श्रम करता है, और स्वयं श्रम करके दूसरो का हित करता है, उसे तो आप नीच समझते हैं और अपने आपको ऊँचा मानते हैं! तुम अपने और चमार के कार्यों की तुलना करो तो पता चलेगा कि चमार क्या बुरे कार्य करता है और तुम क्या अच्छे कार्य करते हो! अतएव परमात्मा का भजन करो। सिर्फ शरीर पर तेल-साबुन

लगाने मे ही मत लगे रहो। यदि तुम शरीर पर तेल-फुलेल लगाने में ही लगे रहे और परमात्मा का भजन न किया तो कैसे कहा जायगा कि तुम चमार से अच्छे हो ? तुम्हे यह दुर्लभ मनुष्यजन्म मिला है सो इसका सदुपयोग करो। इस मनुष्यशरीर द्वारा आत्मा परमात्मा के शरण में जा सकता है। परमात्मा इस शरीर के लिए जितना सन्निकट है, उतना अन्य किसी भी देह के लिए सन्निकट नहीं है। ऐसा होने पर भी तुम मनुष्यशरीर का कैसा दुरुपयोग करते हो, इस बात का विचार करो। कहा भी है—

दया और धर्म के प्रताप कोटवाल भयो,
अब नही साधु की संगति सुहात है।
रात दिन करे मनसूवा धन वांधवे के,
आयु घटी जात जाकी चित्त नही चाह है।
हीरन को छांड़ि छांड़ि कांचन को नग लेत,
अपने ही हाथ देखो आप खोटा खात है।
ऋषीजी कहत हुंडी और की सिकारत है,
अपनी हुंडी के दाम रीते रह जात है॥

अर्थात्—यह मनुष्य शरीर किसके प्रताप से मिला है ? क्या कोई मनुष्य शरीर का एक भी अग बना सकता है ? बादशाह प्रसन्न हो जाय तो कोहीनूर हीरा तो दे सकता है, मगर आँख का हीरा अर्थात् आँख का तेज चला गया हो तो वह नहीं दे सकता। विचार करो कि ऐसी तेजस्वी आँख तुम्हें किसके प्रताप से मिली है ? बादशाह के द्वारा दिये हुए कोहीनूर हीरे को कोई फोड़ने लगे तो

बादशाह उस पर नाराज होगा या नहीं ? अगर तुम अपनी आँखें का, जिनका मूल्य कोहीनूर हीरे की अपेक्षा भी बहुत अधिक है परस्त्री या परपुरुष को दुर्भावना से देखने में दुरुपयोग करो तो क्या परमात्मा तुम से प्रसन्न होगा ? अगर तुम परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो अपनी आँखों का सदुपयोग करो। संसार-बंधन से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य शरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य शरीर अप्रतिबद्ध-अनासक्त होने के लिए ही प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि अप्रतिबद्ध रहने से हमारे घर का और हमारी जाति का काम कैसे चल सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानी जन यह देते है कि किसी भी वस्तु पर जितना ममत्व रक्खोगे उतना ही दुःख बढ़ेगा। अतएव ममत्व भाव जितना कम हो, उतना ही भला है। साधारणतया प्रतिबंध का अर्थ वस्तु का दुरुपयोग है और अप्रतिबंध का अर्थ वस्तु का सदुपयोग है। उदाहरणार्थ—आँख देखने के लिए और कान सुनने के लिए प्राप्त हुए हैं। परन्तु आँख से क्या देखना चाहिए और कान से क्या सुनना चाहिए, इस सम्बन्ध में विवेक की आवश्यकता है। आँख परस्त्री पर कुदृष्टि डालने के लिए और कान पराई निन्दा सुनने के लिए नहीं मिले हैं। फिर भी आँख और कान का सदुपयोग किया जाय तो वह अप्रतिबंध है। जो मनुष्य आँख और कान का का मूल्य समझता होगा वह उनका दुरुपयोग कदापि नहीं करेगा। शास्त्रकारों का कथन है कि इन्द्रियों को और मन को विपरीत कार्यों से निवृत्त करके सत्कार्यों में प्रवृत्त करना अप्रतिबंध है। जो पुरुष प्रतिबंध से निवृत्त होकर अप्रतिबंध दशा मे विचरता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए अप्रतिबद्ध होने की आवश्यकता है और अप्रतिबद्ध होने के लिए संग का त्याग करने की आवश्यकता है। संग दो प्रकार के हैं। एक संग तो आत्मा को अधोगति में ले जाता है और दूसरा संग ऊर्ध्वगति मे पहुँचाता है। यहाँ जिस संग के त्याग करने के लिए कहा है वह अधोगति में ले जाने वाला है। प्रश्न हो सकता है कि अधोगति में ले जाने वाला संग कौन-सा है और ऊर्ध्वगति मे ले जाने वाला कौन-सा है? इस प्रश्न के उत्तर में गीता में कहा है:—

ध्यायतो विषयान् पुँसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अर्थात्—जिस संग के कारण विषयवासना में प्रवृत्ति होती है वह संग अधोगति की ओर ले जाता है। क्योंकि विषयवासना मे किसी प्रकार की विघ्नबाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राम महापुरुष थे, फिर भी रावण को उन पर क्रोध हुआ था, क्योंकि सीता को अपनी बनाने में राम बाधक थे। इसी प्रकार मणिरथ युगबाहु का सगा बड़ा भाई था, फिर भी विषयवासना के कारण क्रुद्ध होकर उसने युगबाहु को मार डाला था। अतएव जिस संगति से क्रोध और कामवासना की उत्पत्ति होती हो, उस संगति का त्याग कर देना चाहिए।

कुसंगति में अनेक बुराइयाँ हैं। बड़े बड़े मनुष्य भी संग के कारण खराब हो जाते हैं। इसी कारण निःसंग बनने के लिए कहा

गया है। निःसंग बनने के लिए अप्रतिबद्ध होना आवश्यक है। आत्मा को अप्रतिबद्ध बनना ही चाहिए किन्तु आत्मा में दुर्गुणों की ऐसी वासना घर कर बैठी है कि उस वासना के कारण आत्मा अपनी हानि जानते हुए भी हानिकारक कार्यों मे ही फँसता जाता है। इसी कारण भक्तजन कहते हैं—'हे प्रभो! मुझ सरीखा मूर्ख और कौन होगा? कोई कह सकता है कि तुम मूर्ख नहीं हो मूर्ख तो मछली और पतंग हैं जो अपने आप ही जाल में जा फँसते हैं और जलकर मर जाते हैं। परन्तु यह कथन भूलभरा है। मछली और पतंग भी मेरे समान मूर्ख नहीं हैं। मेरी मूर्खता तो इनकी मूर्खता से भी बहुत बड़ी है। अगर मछली को पता हो कि इस आटे के पीछे कांटा है और वह काटा मेरे लिए प्राणघातक है तो मछली उस कांटे में कदापि न फँसे और अपने प्राणों का नाश न करे। परन्तु मछली तो उसे अपना भक्ष्य समझ कर ही खाने जाती है और रसलोलुपता के कारण फँस जाती है। इसी प्रकार अगर पतंग को पता होता कि दीपक में अग्नि है और उस अग्नि से मैं मर जाऊँगा तो वह दीपक पर मोहित नहीं होता। परन्तु पतग दीपक को अग्निरूप नहीं समझता। वह तो सुन्दर रूप देखकर ही उस पर गिरता है और अपने प्राणों की आहुति दे देता है। इस प्रकार मछली और पतग तो अनजान में ही विषयभोग मे फँसते है। परन्तु मैं तो जान-बूझ कर विषयभोग मे फँस जाता हूँ और इस कारण मैं उनकी अपेक्षा अधिक मूर्ख हूँ। मै जानता हूँ कि विषयभोग हानिकारक हैं, फिर भी मैं विषयभोगों में प्रवृत्ति करता हूँ। अतएव दीपक लेकर कूप में गिरने वाला मुझ सा मूर्ख और कौन होगा।'

विषयसुख मे अनेक हानियाँ हैं और इसी कारण भगवान् कहते हैं—'निःसग बनो।' यह बात कहने में तो बहुत छोटी है और

सरल है किन्तु उसका आचरण करना बहुत कठिन है। कहने और करने में बहुत अन्तर होता है। अतएव अप्रतिबद्ध और निःसंग बनने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है। अगर ठीक प्रयत्न किया तो आदर्श तक पहुँचा जा सकता है।

तुम्हारे पूर्वज तुम्हारे लिए जो उच्च आदर्श उपस्थित कर गये हैं उसी आदर्श का अनुसरण करो। मगर आजकल तो गौरांग गुरुओं के संग से ऐसा समझा जाने लगा है कि मानो पूर्वजों में बुद्धि ही नहीं थी और वे मूर्ख ही थे। तुम्हारे पूर्वजों की ओर से तुम्हारे लिए त्याग का जो आदर्श रक्खा गया है वह अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। लेकिन तुम आदर्श की ओर ध्यान नहीं देते और इधर-उधर भटकते फिरते हो। तुम आध्यात्मिक कार्यों में गति ही नहीं करते। सिर्फ आधिभौतिक कामों में फँसे रहते हो। यद्यपि गृहस्थ होने के कारण तुम्हें आधिभौतिक कार्यों की सहायता लेनी पड़ती है, यह स्वाभाविक है, परन्तु इतना ध्यान तो रखना ही चाहिए कि जो आधिभौतिक वस्तु नरक के मार्ग में ले जाने वाली है, वह तुम्हारे काम की नहीं। अतएव आधिभौतिक कार्यों के साथ आध्यात्मिक कार्य भी अवश्य करने चाहिए।

कहने का आशय यह है कि परमात्मा के शरण में जाने के लिए संग का त्याग करो। विषयसुख के संग से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध उत्पन्न होने पर हित-अहित का भान नहीं रहता। सुना है, मेवाड़ में एक पुरुष क्रोध के आवेश में आकर अपनी पत्नी को निर्दयतापूर्वक मारने लगा। यह देखकर उसकी लड़की चिल्लाने लगी—"मेरे पिता, माँ को मार रहे हैं। कोई दौड़ो, बचाओ!" लड़की की वह चिल्लाहट सुनकर पिता ने उसके दोनों पैर पकड़े और पत्थर

पर पछाड़ दी। नतीजा यह हुआ कि बेचारी लड़की तत्काल मर गई। लड़की को मार डालने के बाद उसने पत्नी के भी प्राण ले लिए और अन्त में आत्मघात करके वह स्वयं भी मर गया। क्रोध का परिणाम कितना भयंकर होता है, यह बात इसी उदाहरण से समझी जा सकती है। अतएव क्रोध से बचने के लिए संग का त्याग करना चाहिए। विषयलालसा का संग होगा तो क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है और सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से आप स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् नीच गति प्राप्त करता है। इसलिए अपने पूर्वजों के उच्च आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर अपने जीवन को भी आदर्श के अनुसार उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरो की बातो मे फँस कर अपने पूर्वजों को धिक्कारो मत। उनके महान् आदर्श को सन्मुख रक्खो और जीवन को उच्च बनाओ। इसी प्रयत्न में कल्याण है।

तुम लोग धार्मिक होने के कारण कदाचित् गोराग गुरुओ के प्रभाव से बच सके होगे। परन्तु इस बात का तो खयाल रखते हो कि तुम्हारी सतान पर उनका कैसा प्रभाव पड़ रहा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि बकरा निकालने गये और ऊँट घुस पड़ा? तुम्हारी संतान सुधार के नाम पर कुधार तो नहीं करती? अगर तुम्हारी संतान आधिभौतिक मार्ग की ओर झुक गई हो तो उसे अध्यात्म की ओर मोड़ना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

कहा जा सकता है कि आजकल की संतति को आध्यात्मिक बात समझाना कठिन है। इस सम्बन्ध मे यही कहना है कि बालक जब कुनाइन या और कोई कड़वी दवा नहीं खाता तो माता कड़वी

दवा के साथ कोई मीठी चीज खाने को देती है। माता का उद्देश्य मीठी चीज देने का नहीं होता, वरन् कुनाइन या कड़वी दवा देने का और रोग मिटाने का होता है। इसी प्रकार तुम लोग भी संतानो में आध्यात्मिक भाव भरने का उद्देश्य रक्खो। अगर सीधी तरह आध्यात्मिक भाव नहीं भरा जा सकता तो आध्यात्मिक भाव रूपी कुनाइन को आधिभौतिक रूपी मीठी चीज के साथ दो। अगर तुम आध्यात्मिक मार्ग की ओर मुड़ोगे और तुम्हारी सन्तान आधिभौतिकता की ओर अग्रसर होगी तो दोनों के बीच खींचतान होने की संभावना रहेगी। अतएव मतभेद और खींचतान पैदा न होने देने के लिए मध्यम मार्ग खोज निकालना चाहिए।

तुम कह सकते हो—हम ऐसा साहित्य कहाँ से लावें, जिससे हमारा संतानो-युवको के साथ किसी प्रकार का मतभेद न हो। इस प्रश्न के समाधान के लिए वृद्धों और युवकों को अपने-अपने भीतर समान रूप से आध्यात्मिक संस्कार उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि वृद्धों का काम युवकों के सहयोग के बिना और युवकों का काम वृद्धों के सहयोग बिना नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में वृद्धों और युवकों दोनों का कार्य बराबर चल सके, ऐसा मध्यम मार्ग खोज निकालना आवश्यक है। इस दिशा में जितना प्रयत्न किया जाय उतना ही लाभदायक है। अगर तुममें सब के सहयोग से कार्य करने की भावना होगी तो तुम्हारा आत्मा इस विषय में कोई मार्ग अवश्य ही बता देगा। आत्मा में सब प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं, आवश्यकता है भावना की। आत्मा की शक्ति कम नहीं है। आत्मा में सिद्ध भगवान् जितनी शक्ति मौजूद है। कहा भी है:—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म-मैल का अन्तरा, बूझै विरला कोय॥
जीव कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज ध्यान लगाय॥

कच्चे सोने मे और पक्के (शुद्ध) सोने मे जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर जीव और शिव में है। यद्यपि दोनो सोने है, फिर भी अगर कोई पुरुष शुद्ध सोने को ही सोना माने और कच्चे सोने को सोना न माने तो यह उसकी भूल है। शुद्ध सोने के लिए जो क्रिया की गई है, वही क्रिया अगर कच्चे सोने को शुद्ध करने के लिए की जाय तो मिट्टी मिला हुआ सोना भी शुद्ध सोने के समान ही हो जायगा। बचपन में एक धूलधोया के लड़के के साथ मेरी मित्रता थी। मैं कई बार उसके घर जाता था। उसके घर जाने से मुझे मालूम हुआ कि धूल में से सिर्फ सोना ही नहीं निकलता, सोने के अतिरिक्त और धातुएँ भी निकलती हैं। वे लोग अपनी वशपरम्परागत क्रिया द्वारा उन धातुओं को अलग-अलग कर डालते है। इसी प्रकार जीव आज कर्मबंधन से बद्ध है। परन्तु उसे अगर कर्मरहित बना लिया जाय तो जीव में और शिव अर्थात् सिद्ध मे कुछ भी अन्तर नही रहता। अतएव सिद्धों का स्वरूप समझ कर अपना स्वरूप पहचानो और सिद्ध बनने का प्रयत्न करो। इस सम्बन्ध में एक महात्मा ने कहा है:—

अजकुलगत केसरो लहे रे, निजपद सिंह निहार,
तिम प्रभु भकते भवी लहे रे, आत्मस्वरूप संभार,
अजित जिन तारजो रे॥

इस पद में एक दृष्टान्त देकर बतलाया गया है कि आत्मा किस प्रकार अपना स्वरूप भूल गया है और किस प्रकार अपने स्वरूप को जान सकता है। इस दृष्टान्त मे कहा है–एक सिहनी बच्चे को जन्म देते ही मर गई। बच्चा छोटा था और निराश्रित था। जगल में चरता-चरता वह भेडो के झुँड में मिल गया। बच्चा किसी का क्यो न हो, मगर उसे सभी प्यार करते हैं, क्योंकि बालक निर्दोष होता है। सिह का वह बच्चा भी भेडों को प्रिय लगने लगा। भेडों का मालिक सोचने लगा कि भेडों के साथ सिह का बच्चा रहे तो अच्छा ही है। यह सोचकर वह बच्चे को दूध पिलाने लगा। शेर का बच्चा भेडों के ससर्ग से अपने आपको भेड़ ही समझने लगा। वह भेड़ों के समान ही रहने लगा और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगा। किसी समय शेर की गर्जना सुन पड़ती तो वह बच्चा भी भयभीत होकर भेडो के साथ भागता। हालाकि सिंह का बच्चा स्वयं गर्जना करने वाला और भेडों को भगाने वाला था, लेकिन अपना स्वरूप भूल जाने के कारण ही वह भेड़ो की तरह भयभीत होकर भागता फिरता था।

एक दिन भेडो के झुंड के साथ वह बच्चा जंगल मे गया था। वहाँ सिह ने गर्जना की। सिंह की गर्जना सुनकर सब भेड भागीं। सिंह का बच्चा भी साथ ही भागा। भागते-भागते उसने विचार किया–जिस सिंह का इतना बहुत डर लगता है, देखें तो सही वह सिह कैसा है? इस प्रकार विचार कर वह थोड़ी देर रुका। उसने सिंह की ओर देखा और फिर भेड़ो के साथ भागने लगा। परन्तु सिंह का स्वरूप उसके हृदय में अकित हो गया। वह सोचने लगा–सिह कितना जबर्दस्त है! उसका मुख कितना विकराल और उसकी जीभ कैसी लाल है! और उसकी गर्जना कितनी भयकर है। ऐसे भयानक सिंह से डरना स्वाभाविक है।

किसी दूसरे दिन वह शेर का बच्चा भेड़ों के साथ नदी में पानी पीने गया। बकरी और भेड़ पानी गन्दा करके नहीं पीतीं, उन्हें धीरे से निर्मल पानी पीना सुहाता है। भेड़ों के साथ शेर का बच्चा भी पानी पीने लगा। पानी पीते समय उसका प्रतिविम्ब पानी में पड़ा। अपना प्रतिविम्ब देखकर वह सोचने लगा—मेरा स्वरूप तो कुछ निराला ही है। मैं इन भेड़ों जैसा नहीं हूँ। मेरी आकृति भी इन सरीखी नहीं है। मेरी आकृति तो उस दिन के सिंह से मिलती-जुलती है। मेरा मुख भी वैसा ही है और शरीर भी वैसा ही है। मगर देखूं जीभ भी वैसी ही है या नहीं? उसने अपनी जीभ निकाल कर देखी तो वह भी उस सिंह सरीखी दिखाई दी। सिंह का बच्चा सोचने लगा—मेरा मुँह, मेरा शरीर, मेरी जीभ, मेरी आकृति और मेरी पूछ वगैरह सब उस शेर के समान हैं। मगर देखना चाहिए कि मेरी आवाज भी शेर सरीखी है या नहीं? यह सोचकर बच्चे ने गर्जना की। गर्जना सुनते ही भेड़ें भयभीत होकर भागीं। भेड़ चराने वाला भी भय का मारा भाग खडा हुआ। सब के भाग जाने से सिंह के बच्चे को विश्वास हो गया कि मैं सिंह ही हूँ, भेड़ नहीं हूँ।

अब इस शेर के बच्चे को भेड़ों की टोली मे रक्खा जाय तो क्या वह रहना पसन्द करेगा? नहीं।

भक्त कहता है—जैसे सिंह का बच्चा भ्रम से भेड़ के समान बन गया था, किन्तु सिंह को देखकर वह अपने स्वरूप को पहचान सका, इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रम के कारण भेड़ के समान बन गया है। अगर आत्मा स्थिर होकर परमात्मा का ध्यान धरे तो अपने स्वरूप को पहचान सकता है और परमात्मा के समान बन सकता है। परमात्मा का ध्यान करने के लिए एकाग्रता की अत्यन्त

आवश्यकता है। एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाय और यह विचार किया जाय कि मै कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाने वाला हूँ ? मैं देह नहीं, देही हूँ, मै कान नही वरन् कान से काम लेने वाला हूँ, इत्यादि, तो आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है और आत्म-ज्ञान होने से परमात्मा को भी पहचाना जा सकता है। आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न करो तो सिद्धिगति प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे जो बाल बचपन में काले थे, वे सफेद होकर सूचना दे रहे हैं कि हम तो अपनी गति प्राप्त कर रहे हैं, तुम अपनी गति क्यो नहीं प्राप्त करते ? इस उपदेश का अर्थ यह नहीं कि तुम अपना शरीर नष्ट कर डालो। इसका अर्थ यह है कि आत्मा और शरीर को अलग-अलग समझो और यह मानो कि मै शरीर नही, शरीर में रहनेवाला आत्मा हूँ। इस प्रकार देही होने पर भी तुम देह के प्रतिबंध में पड़े हो। इस प्रतिबंध को दूर किये बिना आत्मा सिद्धिगति प्राप्त नहीं कर कर सकता। अतएव प्रतिबंध दूर करने के लिए तथा आत्मा को अप्रतिबद्ध बनाने के लिए एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करो। एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाएगा। आत्मा का वास्तविक कल्याण अपना स्वरूप समझने में और परमात्मदशा प्राप्त करने में ही है।

एकतीसवाँ बोल ।
विविक्त शयनासन

तीसवे बोल मे अप्रतिबद्धता पर विचार किया गया है। जो पुरुष अप्रतिबद्ध होता है या होना चाहता है, वह स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में शयन-आसन नहीं करता। अतएव गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं कि विविक्त शयनासन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—विवित्त सयणासणसेवणयाएणं भंते जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—विवित्तसयणासणसेवणयाए णं चारित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगन्त-रए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥३१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! एकान्त शयन और आसन के सेवन से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! विविक्त शयनासन से अर्थात् स्त्री आदि के संसर्ग रहित शयन और आसन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती है, चारित्रशील बनने से जीव आहार सम्बन्धी आसक्ति त्याग कर चारित्र में दृढ होता है। इस प्रकार एकान्तप्रिय और मोक्ष भाव को प्राप्त जीवात्मा आठों प्रकार के कर्मों के बंधन से मुक्त होता है।

व्याख्यान

सूत्रपाठ के सम्बन्ध में विचार करने से पहले विविक्त शयनासन के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए।

विविक्त शब्द का अर्थ है—रहित अथवा एकान्त। साधु हो तो स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित और यदि साध्वी हो तो पुरुष, पशु आदि से रहित शयन, आसन और उपलक्षण से स्थान का सेवन करना चाहिए।

शास्त्र में मुख्य रूप से पुरुषों को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है, और इसी कारण सूत्रपाठ में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक वाले शयन, आसन तथा स्थान का सेवन न करने के लिए कहा गया है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक वाले शयन, आसन और स्थान में साधु के ब्रह्मचर्य की भलीभाँति रक्षा नहीं हो सकती।

साधु को किस उद्देश्य से विविक्त शयन-आसन का सेवन करना चाहिए? क्या साधु को स्त्री, पशु और नपुँसक के साथ किसी किस्म का द्वेष है अथवा किसी प्रकार की अरुचि है? अगर अरुचि के कारण ही साधु विविक्त शयन-आसन का सेवन करते हों तो अनेक गृहस्थ भी ऐसे हैं जो क्लेश उत्पन्न होने के कारण स्त्री का मुँह देखना भी पसंद नहीं करते। उदाहरणार्थ—सती अंजना पर

पवनकुमार क्रुद्ध हो गए थे। अतएव वह अंजना का नाम सुनना नही चाहते थे। इतना ही नहीं, जिस द्वार में से अजना उनका दर्शन करती थी, वह द्वार भी उन्होने बन्द करवा दिया था। क्या इस प्रकार के वर्त्ताव को विविक्त शयनासन कहा जा सकता है? यदि नहीं, तो फिर विविक्त शयनासन किसे कहना चाहिए? जब साधुओं को किसी भी प्राणी पर द्वेष नही है, सब जीवों के प्रति समभाव है, और वे स्त्री, पशु और नपुंसक आदि को आत्मतुल्य गिनते हैं, तो विविक्त शयनासन का यहाँ क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुओ को एकान्त मे रहना चाहिए, क्योंकि सब लोगों का चरित्र सरीखा नहीं होता। अगर साधुओ के लिए एकान्त मे रहने का नियम न हो और वे स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में रहने लगे तो ब्रह्मचर्य का घात होने की सभावना है। हालांकि विजय सेठ और विजया सेठानी एक ही जगह शयन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु यह एक अपवाद है। सभी लोग ऐसे नही हो सकते। अतएव ब्रह्मचर्य सबधी जो मर्यादा बांधी गई है, उसका पालन करना उचित और आवश्यक है। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग वैसा ही आचरण करते हैं।

अतएव विजय सेठ और विजया सेठानी के समान शक्ति होने पर भी मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। मर्यादा का पालन न करने से अन्य लोगों को हानि होने की संभावना रहती

है। क्योंकि जिनमें ऐसी शक्ति नहीं होती वे भी इस प्रकार के उदाहरण की आड़ में ऐसा काम करने लगते हैं और अन्त मे पतित हो जाते हैं। सभी पृथ्वी के सहारे टिके हैं। आसन आदि होने पर भी आधार तो पृथ्वी का ही है। परन्तु कोई महात्मा अगर अपने लब्धि बल से पृथ्वी का सहारा लिये विना ही स्थिर रह सकता हो तो उसे अपवाद कहना चाहिए। मगर इस अपवाद का अनुकरण करने वाले दूसरे लोग भी यदि पृथ्वी का सहारा लिए विना स्थिर रहने का प्रयत्न करें तो वे नीचे गिर जाएँगे। इसी प्रकार कोई संयमी मनुष्य, स्त्री के साथ रहता हुआ भी संयम का पालन करता है, मगर यह अपवाद है और वह सभी के लिए उत्सर्ग मार्ग नहीं बन सकता। अतएव जहाँ स्त्री, पशु या नपुंसक का वास हो, वहाँ नहीं रहने का नियम सभी के लिए बना दिया गया है।

शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह जगद्गुरु का दिया हुआ उपदेश है। जगद्गुरु किसी व्यक्ति-विशेष को ही लक्ष्य करके उपदेश नहीं देते, वरन् जनसमाज को दृष्टि में रखकर उपदेश देते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि साधु को विविक्त शयनासन का सेवन करना चाहिए।

यह तो हुई विविक्त शयनासन के सेवन की बात। परन्तु विविक्त शयनासन के सेवन से लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि विविक्त शयनासन के सेवन से चारित्र की गुप्ति-रक्षा होती है।

यह उपदेश ब्रह्मचर्य को दृष्टि में रखकर ही दिया गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त में रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए, जहाँ स्त्री, पशु या नपुंसक रहते हो। यही नही, ब्रह्मचारी को विकार उत्पन्न करने वाला आहार भी नही लेना चाहिए। जिस आहार के सेवन से विकार पैदा होता है वह विकृत आहार कहलाता है। घी, दूध, तेल वगैरह वस्तुएँ विकृति उत्पन्न करती है, अतः उन्हे 'विगय' कहते है। शास्त्र मे 'विगय' वस्तुओं के त्याग का खास तौर पर उपदेश दिया गया है। निशीथसूत्र मे कहा है:—

'जे भिक्खू आयरिय उवज्झायं अदिन्नं विगयं आहारं तं वा साहिज्जइ।'

अर्थात्—अगर किसी साधु को विगय अर्थात् विकृत वस्तु लेने की आवश्यकता हो तो उसे आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा लेकर ही विकृति का आहार करना चाहिए। अगर कोई साधु, आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा लिए विना ही विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थ स्वय खाता है या दूसरो को खिलाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है तो वह साधु दड का पात्र है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तथा स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए जीभ पर अंकुश रखने की बड़ी आवश्यकता है। जीभ पर अकुश न रहने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। जीभ पर अकुश रखने वाले मनुष्य को शायद ही कभी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता पड़ती है।

लोगों से पूछा जाय तो वे यही कहेंगे कि हम जीने के लिए खाते हैं। मगर उनकी परीक्षा की जाय तो जीने के लिए खाने वाले बहुत कम निकलेंगे। अगर तुम जीने के लिए ही खाते हो तो क्या

भोजन करते समय अपने डाक्टर बनकर क्या इस बात का विवेक रखते हो कि कौन-सी वस्तु भक्ष्य और कौन-सी अभक्ष्य है ?' किससे स्वास्थ्य का सुधार और किससे स्वास्थ्य का नाश होता है ? अगर तुम भोजन के विषय मे यह विवेक नही रखते तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि तुम जीने के लिए खाते हो ? सचमुच ही अगर तुम जीने के लिए खाते हो तो स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली और जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुएँ कैसे खा सकते हो ? जैसे कोई भी मनुष्य अपरिचित पुरुष को अपने घर में सहसा स्थान नही देता उसी प्रकार जिस वस्तु के गुण-दोष का तुम्हें पता नही है, उसे अपने पेट में स्थान नही दे सकते। अगर तुम अपने पेट में अनजान चीज को ठूँस लेते हो तो तुम्हारे पेट को Dinner box (भोजन पेटी) के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

एक विद्वान् का कथन है कि संसार मे खा खा कर जितने लोग मरते हैं, भूख से उतने नहीं मरते। लोग कठ तक ठूंस-ठूंस कर खाते हैं और फिर डाक्टर की सेवा में जाते है। इस प्रकार ज्यों-ज्यो डाक्टर बढते जाते हैं त्यों त्यों रोग बढते जाते हैं। डाक्टरों के बढ़ने से रोगो की सख्या घटी नहीं है। 'इतनी-सी चीज खाने से क्या हुआ जाता है ? अगर कुछ हो भी गया तो डाक्टर की दवा लेंगे।' ऐसा विचार कर लोग अधिक खा जाते है और फिर बीमार पडते हैं। यह तो पड़ौसी के भरोसे अपना घर खुला रखने के समान है। आज तो प्रायः ऐसा देखा या सुना जाता है कि जो मनुष्य जुदा-जुदा प्रकार की जितनी खाद्य चीजें खाता है, वह उतना ही बडा आदमी कहलाता है। मगर शास्त्र कहता है कि जो जितना ज्यादा त्याग करता है वह उतना ही बड़ा पुरुष है। शास्त्र में आनन्द श्रावक

का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड स्वर्ण मोहरों का तथा चालीस हजार गायों का स्वामी होते हुए भी उसने परिमित द्रव्य खाने-पीने की ही मर्यादा बाँधी थी। इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से जो पुरुष खानपान में जितना सयम रखता है, वह उतना ही महान् गिना जाता है।

जीभ पर अंकुश रखने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। तुम लोगों को जैसा और जितना खाना-पीना मिलता है, वैसा और उतना किसानों को नहीं मिलता, फिर भी किसी समय तुम्हारी औ किसान की कुश्ती हो तो कौन जीतेगा ? यह तो स्वयं तुम्हीं कहोगे कि किसान हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और बलवान् है।

इस प्रकार अधिक खाने से स्वास्थ्य सुधरता नहीं, बिगड़ता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य की हानि होती है और साथ ही चारित्र की भी हानि होती है। इसीलिए भगवान ने कहा है कि जिस वस्तु के खाने से विकार उत्पन्न होता हो वह वस्तु साधु को नहीं खानी चाहिए। साधु को तो वही और उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर की रक्षा हो सकती हो! शरीर को बढ़ाने के लिए अथवा स्वाद के लिए साधु को भोजन करना उचित नहीं है।

कहा जा सकता है कि स्वाद के लिए कोई चीज न खाना कैसे सभव हो सकता है ? खट्टी या मीठी चीज खाने से खट्टा या मीठा स्वाद आये बिना नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, कल्पना करो, तुम्हे वैद्य ने शहद के साथ खाने के लिए कोई दवा दी। तुमने शहद के साथ दवा खाई। शहद तो अपना स्वाद देता ही है, परन्तु तुमने शहद स्वाद के लिए खाया है या दवा के लिए खाया है ? तुमने दवा सेवन करने के लिए ही शहद खाया

है। इसी प्रकार साधुओ का भोजन करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को टिकाए रखना है, स्वाद लेना नहीं।

तुम लोग खाने में जितना आनन्द मानते हो, उससे अनन्त गुना आनन्द साधुजन संयम में मानते हैं। यही कारण है कि वे खाने के लिए संयम नहीं गँवाते। उनकी दृष्टि में खाने-पीने की अपेक्षा संयम की कीमत अनेकगुनी अधिक है। साधुजन संयम में और चारित्रपालन में सावधान रहते है और मुक्ति मे आनन्द मानते हैं।

मान लो, तुम्हारे पास एक मूल्यवान् हीरा है। तुम्हें विश्वास है कि इस हीरा की कीमत से तुम अपने सब संकट हटा सकते हो। ऐसी दशा में क्या तुम वह हीरा एक मुट्ठी चनों में बेच दोगे? नहीं। इसी प्रकार जिन मुनियों को यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि संयम समस्त संकटों से छुटकारा दिलाने वाला है और आठ कर्मों को नष्ट कर मुक्ति दिलाने वाला है, वे मुनि क्या खानपान के लिए सयम का परित्याग कर सकते हैं? कदापि नहीं।

कहने का आशय यह है विविक्त शयनासन का सेवन करने से चारित्र की गुप्ति अर्थात् रक्षा होती है। चारित्र की रक्षा होने में आहार सम्बन्धी आसक्ति का नाश हो जाता है और चारित्रपालन मे दृढ़ता आती है। इस प्रकार संग रहित शयन-आसन का सेवन करने वाला तथा मोक्ष-भाव को प्राप्त जीवात्मा आठों प्रकार के कर्मों के बंधन से मुक्त होता है।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया है। वे कहते हैं—मैंने एक वक्ता से यह सुना है कि सांस्कारिक कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैन-शास्त्र कहता है कि कृत कर्मों का नाश नहीं होता। इन दोनो में से

कौन-सी बात सही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, वह उसी प्रकार भोगना पड़ता होता तो भगवान् यह क्यों कहते कि विविक्त शयनासन का सेवन करने वाला आठ कर्मों की गांठ तोड़ सकता है ? किये हुए कर्मों का भोगना अनिवार्य होता तो इस कथन का क्या आशय है ? इसके अतिरिक्त अगर कर्मों की निर्जरा न हो सकती हो तो फिर तप किसलिए किया जाता ? इससे कर्मों की निर्जरा होना सिद्ध होता है।

अब दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो फिर 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों से विना भोगे छुटकारा नहीं मिलता, यह क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दोनों बातें सही है। मैंने एक कविता सुनी है—

कर्मरेख नहीं मिटे करो कोई लाखों चतुराई।

इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जाता है कि कृतकर्म भोगने ही पड़ते हैं और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है। इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बातें सुनने से संदेह उत्पन्न होता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु यह विषय अगर भलीभाँति समझ लिया जाय तो संशय को कोई स्थान नहीं रह जाता।

शास्त्र में स्पर्शबध, बद्धबंध, निधत्तबध और निकाचितबध के भेद से कर्मों का बध चार प्रकार का बतलाया गया है। पहला स्पर्शबंध सुइयों के ढेर के समान होता है। सुइयों का ढेर करने में कुछ देर लगती है पर बिखरने में देर नहीं लगती, क्योंकि सुइयों का

आपस में स्पर्शमात्र हुआ है–बंध नहीं हुआ। दूसरा बद्धबध है। बध तो होता है मगर निर्जरा होने में देर नहीं लगती। अर्थात् सुइयों के उस ढेर को डोरे से बाध दिया जाता है मगर वह डोरा सरलता से हटाया जा सकता है। और सुइयों का ढेर फिर जल्दी से बिखर जाता है। इस प्रकार का बंध बद्धबध कहलाता है। तीसरा निधत्त-बंध है। यह बंध कुछ मजबूत होता है। जैसे उसी सुइयों के ढेर को लोहे के तार से मजबूत बाँध दिया जाय। ऐसा करने पर सुइयाँ उस ढेर से निकल सकती हैं और लोहे का तार भी छूट सकता है। अलबत्ता लोहे का तार छुटाने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। चौथा निकाचितबंध है। यह बध बहुत गाढ होता है। जैसे सुइयों का ढेर आग में तपा लिया जाय और घन से पीट-पीट कर उन्हे एकमेक कर दिया जाय। इस प्रकार कर्म का बध चार प्रकार का है। इनमें से तीन प्रकार से बँधे हुए की पूरी तरह निर्जरा होती है। निकाचित कर्म की निर्जरा तो होती है किन्तु उसमें स्थिति और रस घात होता है। जैसे पहले ज़माने में सुई बनाने में विलम्ब लगता था मगर अब विज्ञान की वृद्धि हो जाने के कारण विलम्ब नहीं लगता। इसी प्रकार निकाचित कर्म भोगने तो पड़ते हैं मगर थोड़े समय में उनका भोग हो जाता है। निकाचित कर्म स्थिति और रस से तो कम किये जा सकते हैं परन्तु प्रकृति और प्रदेश से कम नहीं हो सकते। इस प्रकार कर्मों की निर्जरा का होना भी सत्य है और भोगे बिना छुटकारा न होना भी सत्य है। शास्त्र का कथन सापेक्ष है और सापेक्ष दृष्टि से दोनों बातें सत्य हैं।

कर्म भोगने पड़ते हैं, यह सुनकर किसी को घबरा जाने की जरूरत नहीं है। कर्मों को भोगना अर्थात् पाप का नाश करना। अतएव कर्मों को भोग कर पाप से मुक्त होने का विशेष प्रयत्न करना

चाहिए। हाँ, ऐसा नहीं होना चाहिए कि पहले तो पापकारी प्रवृत्ति की जाय और फिर उसका प्रायश्चित्त किया जाय। यह तो वैसी ही चेष्टा है कि पहले तो चोर को घर में जानबूझ कर घुसने दिया जाय और फिर बाहर निकालने का प्रयास किया जाय! जानबूझ कर अपने घर में चोर को घुसने देना मूर्खता है। लोग घर में चोर न घुसने देने के लिए सावधानी रखते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ऐसी सावधानी रखनी पडती है कि पापकार्य न होने पावे। सावधानी रखने पर भी अगर पापकार्य हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त करके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि भविष्य मे फिर पापकार्य न हो सके। इस विषय में तुमसे और कुछ न बन सके तो जब माथे पर दुःख आ पड़े तो कम से कम इतना अवश्य मानो कि जो कुछ होता है, भले के लिए ही होता है।

कहने का आशय यह है कि जो दुःख होने वाला है, वह तो होगा ही। परन्तु उस दुःख के समय जो कुछ होता है सो भले के लिए ही होता है, ऐसा समझ कर दुःख मे भी सुख मानो। इस प्रकार दुःख के समय सुख समझने से आठ कर्मों की गांठ ढीली होती है। दुःख भोगते समय हाय-तोबा मचाने से अधिक दुःख होता है। अतएव दुःख भोगते समय घबराना उचित नहीं है। चित्त को प्रसन्न रखकर परमात्मा का शरण ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण अवश्य हो सकता है।

बत्तीसवाँ बोल।

विनिवर्त्तना

विविक्त शयन और आसन का सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम विषयवासना से विमुख होना चाहिए। अतः गौतम स्वामी भगवान् से विनिवर्त्तना के विषय में प्रश्न करते हैं।

मूलपाठ

प्रश्न—विणियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—विणियट्टणयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ, पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय संबधी विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—हे गौतम! विनिवर्त्तन से नवीन पापकर्म नहीं होते और पहले के बँधे हुए टल जाते है, तत्पश्चात् जीव चारगति रूप संसार-अटवी को लांघ जाता है।

व्याख्यान

विषय-वासना से विमुख होना विनिवर्त्तन कहलाता है। जो पुरुष विविक्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह विषय-वासना से अवश्य पराङ्मुख हो जाता है। क्योंकि विविक्तशयनासन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती है और जो चारित्र की रक्षा करना चाहता है वह विषयवासना से पराङ्मुख होता ही है। इस प्रकार जो आत्मा विषयों की ओर दौड़ा जा रहा है, उसे उस ओर से रोक देना ही विनिवर्त्तन कहलाता है।

जैसे पानी स्वभावतः नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार पूर्व संस्कारो के कारण आत्मा विषयो की ओर दौडता है। आत्मा को विषयो की ओर जाने से रोकना ही यहाँ विनिवर्तना का अर्थ है। इस विनिवर्त्तन से अर्थात् विषयविरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है? गौतम स्वामी ने भगवान् से यही प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फ़र्माया है कि विषयो से विरक्त होने वाला मनुष्य पापकर्मों मे प्रवृत्त नही होता। विनिवर्त्तन करने वाला हमेशा इस बात की सावधानी रखता है कि मुझसे कभी कोई पापकर्म न

हो जाय। वह पहले के पापकर्मों की निर्जरा करने का भी प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पापकर्मों से निवृत्त होकर निष्पाप बनता है और निष्पाप होने से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव तथा नरक-इन चार गति रूप ससार-अटवी को पार कर जाता है। यह मूल सूत्र का अर्थ हुआ। अब इस पाठ के सम्बन्ध में यहाँ विशेष विचार किया जाता है।

संसारी जीव विषयों की ओर दौड़ता रहता है। साधारण कीडे भी विषयो की तरफ दौडते हैं तो मनुष्य, जिसका इतना अधिक ज्ञानविकास हो चुका है, विषयो की ओर दौडे तो आश्चर्य ही क्या है! यह बात अलग है कि शास्त्रश्रवण या पठनपाठन करते समय थोड़ी देर के लिए मनुष्य की मति ठीक रहती है, परन्तु संसार के अधिकांश मनुष्यों की गति विषयों की तरफ ही बनी रहती है। महान् त्यागियो का मन भी क्षण भर मे विषयो की ओर आकर्षित हो सकता है। इस प्रकार के विषयो की ओर से जो विमुख रहता है वह महान् विजेता है। दुस्तर नदी को पार करना कठिन है तो फिर विषयवासना रूपी नदी को पार करना तो बहुत ही कठिन है। अगर कोई मनुष्य पूर आई नदी को पार कर जाय तो वह कितना बडा तैराक कहलाएगा ?

इस विषय में महाभारत मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है। एक बार श्रीकृष्ण अमरकका नगरी के राजा पद्मनाभ को जीतकर लौट रहे थे। पाण्डव भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवो से कहा–तुम लोग आगे चलो, मैं पीछे आता हूँ। पाण्डव आगे-आगे चलने लगे। रास्ते में उन्होंने देखा कि गंगा नदी में तेज पूर आ रहा है। उन्होंने नाव पर चढ़कर गगा नदी पार की और परले पार पहुँच

गए। उसके बाद उन्होंने विचार किया—जिन्होंने पद्मनाभ राजा को हराया है वे श्रीकृष्ण महाराज कैसे पराक्रमी हैं और वे गंगा को किस प्रकार पार करते हैं, आज इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने नाव छिपा दी। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' इस कहावत के अनुसार पाण्डवों को उलटी बुद्धि सूझी।

पीछे से श्रीकृष्ण गंगा नदी के किनारे आये। उन्होंने देखा, गंगा में खूब जोरदार पूर आया है। गंगा को पार करने का और कोई उपाय नज़र नहीं आता। ऐसी दुस्तर गंगा नदी को पाण्डव किस प्रकार पार कर गये! और जब वे गंगा नदी को पार कर गए तो पद्मनाभ से कैसे हार गए? इस दुस्तर महानदी को पार कर जाने वाला व्यक्ति पद्मनाभ से पराजित हो जाय, यह संभव नहीं है। इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने एक हाथ में रथ लिया और दूसरे हाथ से नदी का पानी काटते हुए गंगा पार करने लगे। नदी में तैरते-तैरते बीच में उन्हें कुछ थकावट हुई। उस समय गंगा देवी ने प्रकट होकर उनके विश्राम के लिए स्थान बना दिया और श्रीकृष्ण से कहा—'अगर आप आज्ञा दें तो मैं आपके लिए मार्ग बना दूँ अथवा नौका आदि की व्यवस्था कर दूँ।' श्रीकृष्ण बोले—मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अगर मैं नाव आदि की सहायता लेकर नदी पार करूँगा तो इसमें क्या विशेषता रहेगी? अपने पुरुषार्थ से ही मुझे नदी पार करनी चाहिए।'

श्रीकृष्ण अपने पुरुषार्थ के द्वारा गंगा नदी को पार करने में समर्थ हुए। पाण्डव उन्हें प्रणाम करके कहने लगे-आप धन्य हैं जो अपने पुरुषार्थ के प्रताप से इस महानदी को पार करने में समर्थ हो सके।

श्रीकृष्ण ने उत्तर में कहा–इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जब तुम लोग ही गंगा पार कर सके तो मेरे पार करने में आश्चर्य ही क्या है?

पाण्डव बोले—हमने तो नौका से नदी पार की है।

श्रीकृष्ण ने कहा—तो फिर मेरे लिए नौका क्यों नहीं भेजी?

पाण्डव—अमरकका के राजा पद्मनाभ के विजेता में कितना पराक्रम है, यही देखने के लिए नौका नहीं भेजी थी।

पाण्डवों का यह उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुए और कहने लगे—तुम्हारे भीतर इतनी बड़ी धृष्टता है! जब तुम लोग पद्मनाभ से हारकर लौटे थे और मैंने पद्मनाभ को हराया था, तब क्या तुमने मेरा पराक्रम नहीं देखा था? तुम लोग मेरे राज्य मे रहने योग्य ही नहीं हो, अतएव मेरे राज्य मे से निकल जाओ।

इस प्रकार कृष्ण को कुपित हुआ देख पाण्डवों को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। माता कुन्ती आदि के प्रयत्न से श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि शान्त हुई।

कहने का आशय यह है कि जिन्होंने पूर आई नदी पार की उनमें कितना अधिक बल होगा? इसी प्रकार विषयभोग की दुस्तर नदी को जो महापुरुष पार कर सके, वे कितने बड़े वीर होंगे?

यह तो विषयसुख पर विजय प्राप्त करने करने की बात हुई। परन्तु यहाँ यह देखना है कि विषयसुख से पराङ्मुख होने का फल क्या है? विषयसुखों की ओर चित्त आकृष्ट न होना ही विषयसुखो से पराङ्मुख होना कहलाता है। विषयसुख से पराङ्मुख होने का ढोंग करना दूसरी बात है। किन्तु अगर सम्यक् प्रकार से कोई विषय-

सुख से विमुख हो जाय तो विषयों के प्रति उसके चित्त का आकृष्ट न होना स्वाभाविक है। विषयसुख से विमुख हुआ पुरुष अपने में पापकर्मों का आगमन नहीं होने देता।

विषयलालसा से ही प्रत्येक पाप की उत्पत्ति होती है। जिसमें विषयलालसा नहीं होती वह पापकर्म भी नहीं करता। अतएव विषय-वासना से हटना पापकर्मों से हटने के समान है। पाप से दूर होने वाले जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं—एक सिद्ध होते हैं और दूसरे साधक होते हैं अर्थात् एक तो वे है जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित हो चुके है और दूसरे वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित होने का प्रयत्न करते हैं। जो सिद्ध हो चुके है उनकी यहाँ चर्चा ही नहीं है, क्योंकि सिद्ध के लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। उपदेश तो साधक के लिए ही दिया जाता है। साधक को उन्मार्ग की ओर जाने से बचाने के लिए उपदेश दिया जाता है। साधको को यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि अगर तुम पाप से बचना चाहते हो तो विषयवासना का त्याग करो।

पाप सबको बुरा लगता है। कोई मनुष्य पापी कहलाना पसन्द नही करता। किसी को पापी कहा जाय तो वह नाराज़ हो जाता है। इस प्रकार कोई पापी नहीं बनना चाहता। परन्तु शास्त्र का कथन है कि वास्तव मे पापी न बनना हो तो विषयवासना का त्याग करो। जो पुरुष विषयवासना का त्याग न करके भी अपने को निष्पाप कहलवाना चाहता है, वह चोरी करता है, भीतर और कुछ रखना और बाहर और कुछ दिखलाना यह चोरी है। इस प्रकार की चोरी न करते हुए विषयवासना से विमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पाप मुख्य रूप से अठारह प्रकार के हैं। यह सब पाप विषयवासना से ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—हिंसा का पाप वही व्यक्ति करता है, जिसमें विषयलालसा होती है। प्राणियों के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। परन्तु इस क्रिया को हिंसा के अन्तर्गत कब माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध में कहा है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।

अर्थात्—प्रमाद से या विषयपोषण के लिए किसी प्राणी के प्राणों को नष्ट करना हिंसा-पाप है। अगर जीव मर जाने मात्र से हिंसा को पाप मान लिया जाय तो तेरहवें गुणस्थान में स्थित पुरुष के शरीर से भी जीव मरते हैं, अतएव उन्हें भी हिंसा का पाप लगना चाहिए क्योंकि योगी की चपलता से जीवों को आघात पहुँचना या उनकी मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है। देखना तो यह चाहिए कि जीव के प्राणघात में हेतु क्या है ? जो हिंसा प्रमाद से या विषयपोषण के उद्देश्य से की जाती है वही हिंसा पाप के अन्तर्गत कही जा सकती है।

कुछ लोगों को ऐसी शंका होती है कि जब सम्पूर्ण आकाश जीवों से व्याप्त है और शरीर के द्वारा जीवों का मरण होना भी स्वाभाविक है, तो फिर पूर्ण अहिंसक किस प्रकार हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवों का मर जाना स्वाभाविक है, परन्तु पहले यह देखना चाहिए कि उनका उद्देश्य क्या है ? क्या उनका उद्देश्य जीवों को मारना है ? वस्तुतः हिंसा वही है जो प्रमाद के योग से की जाती है या विषयपोषण के लिए की जाती है। इसके अतिरिक्त जो हिंसा होती है उसकी गणना पाप में नहीं की जाती। उदाहरणार्थ—कोई मुनि यदि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से

चल रहा हो, फिर भी कोई जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर मर जाय तो उसमे हिंसा का पाप लगना नहीं माना जाता। इसके विपरीत अगर कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप लगता है, क्योंकि हिंसा प्रमाद से होती है अर्थात् प्रमाद हिंसा है।

हिंसा का पाप विषयलोलुपता से ही होता है। इसी प्रकार असत्य आदि दूसरे पाप भी विषयलोलुपता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इन पापों से बचने के लिए विनिवर्त्तना करन की अर्थात विषयसुख से विमुख होने की आवश्यकता है। विषयवासना से विमुख हो जाने वाला पापकर्मों में प्रवृत्ति नहीं करेगा।

पूर्ण सत्य तो केवल आदर्श रूप है। जो वस्तु जैसी हो, वह वैसी ही कही जाय अर्थात् बोलने मे एक भी अक्षर का अन्तर न पड़े, वह पूर्ण सत्य है। पूर्ण ज्ञानी ही पूर्ण सत्य कह सकते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी ही अगर पूर्ण सत्य बोल सकते हैं तो दूसरे लोगो को कैसा सत्य बोलना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि हृदय मे विषयभावना या वास्तविकता के विरुद्ध बोलने का भाव न हो तो इस दशा मे जो कुछ भी बोला जाता है, वह भी सत्य ही है। श्रीआचाराग सूत्र में कहा है—

समयं ति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होइ उवेहाए।

अर्थात् मन में समता हो फिर मुख से कदाचित विपम शब्द भी निकल जाय तो वह भी सत्य ही है, क्योंकि बोलने वाले का आशय खराब नहीं है।

शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि खराब आशय और विषयवासना रक्खे विना जो कुछ बोला जाता है वह भी सत्य है। जो इस प्रकार सत्य वचन बोलता है और असत्य का त्याग करता है वह किसी दिन पूर्ण सत्य को भी प्राप्त कर सकता है। जैसे रेखागणित में मध्यरेखा की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार हमारे लिए पूर्ण सत्य तो कल्पना के समान प्रतीत होता है। किन्तु जैसे रेखागणित में मध्यरेखा की लम्बाई चौडाई न होने पर भी मानी जाती है-माननी पड़ती है, उसी प्रकार सत्य में भी पूर्ण सत्य का आदर्श मानना आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि असत्य का पाप भी विषयलालसा से ही उत्पन्न होता है।

तीसरा पाप चोरी का है। चोरी का पाप भी विषयलोलुप मनुष्य ही करता है। जिसने विषयवासना पर विजय प्राप्त कर ली है वह चोरा नहीं करेगा। अर्थात् विषयविजयी पुरुष चोरी का पाप नहीं करता। चोरी में केवल दूसरों की चीज़ों को विना अधिकार लेने का ही समावेश नहीं होता परन्तु अपना या दूसरों का विकास रोकना भी चोरी ही है। तुम श्रावक हो-गृहस्थ हो, अतएव तुम पूरी तरह चोरी से निवृत्त नहीं हो सकते, अतएव तुम्हें स्थूल चोरी से निवृत्त होने के लिए कहा गया है। अर्थात् तुम्हारे लिए ऐसी चोरी करने की मनाई की गई है जिससे राज्य या समाज के नियमों का उल्लघन होता हो अथवा जिसे राज्य या समाज चोरी मानता हो। पूर्ण चोरी में तो रास्ते में पड़े हुए एक छोटे-से तिनके को भी विना पूछे लेने का समावेश हो जाता है। पर तुमने अगर रास्ते में पड़ी हुई तिनका जैसी मामूली वस्तु ले ली हो तो तुम्हें राज्य या समाज द्वारा दंड नहीं दिया जाता। ऐसा करना चोरी में भी नहीं गिना

जाता। अतएव शास्त्रकारो ने भी ऐसे कृत्य को स्थूल चोरी मे नहीं गिना है, अलबत्ता सूक्ष्म चोरी में उसकी गणना की गई है। तुम्हें ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग करने के लिए नहीं कहा गया है। परन्तु राजा ने पत्थरों की खान में से पत्थर लेने की मनाई कर दी हो और तुम राजा की आज्ञा लिए विना पत्थर ले आओ तो वह स्थूल चोरी है। इस प्रकार जिस चोरी से राजाज्ञा या समाजाज्ञा का भग नहीं होता वह स्थूल चोरी नही है और तुम्हे स्थूल चोरी त्यागने के लिए ही कहा गया है। हॉं, यह बात दूसरी है कि राजा के बनाये हुए कानून योग्य है या नहीं, और उनका पालन करना उचित है या नही, परन्तु राजा के किसी अयोग्य कानून का भी अगर तुम छिप कर भी भग करते हो तो तुम्हारा यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है। तुम्हे कोई कानून खराब और हानिकारक प्रतीत होता हो तो तुम उसे खराब कहकर सविनय कानूनभग की भॉंति उल्लंघन कर सकते हो। अगर कानून बुरा न हो और छिपकर उसका भंग करो तो यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है।

कदाचित् तुम कहोगे कि शास्त्र मे राजा के विरुद्ध कार्य करना निषिद्ध है, तो फिर राजा का कानून किस प्रकार भग किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र मे जो 'विरुद्धरज्जाइ-कम्मे' कहा गया है, उसका अर्थ राजा के विरुद्ध काम न करना नहीं वरन् राज्यविरुद्ध कार्य न करना है। राज्य का अर्थ सुव्यवस्था है। सुव्यवस्था का भग करने की मनाई की गई है। परन्तु राजा के खराब कायदे का भंग करने की मनाई नही की गई। मान लो कि किसी राजा ने अपना भंडार भरने के लिए यह कानून बनाया कि प्रत्येक प्रजाजन को प्रतिदिन एक-एक प्याला शराब पीनी चाहिए,

जिससे राज्य की आय मे वृद्धि हो। तो क्या राजा के इस आदेश का पालन किया जायगा? ऐसे आदेश का विरोध करना धर्म हो जाता है परन्तु छिपकर किसी कानून का भग करना चोरी है। अगर कोई कानून वास्तव में बुरा है तो प्रकट रूप से उसे भग करना चाहिए, छिप कर नहीं। 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ है सुव्यवस्था के विरुद्ध कोई काम न करना। इस शास्त्रकथन का यह अर्थ नहीं कि दुर्व्यवस्था के विरुद्ध भी कोई कार्य न किया जाय। जहाँ दुर्व्यवस्था है वहाँ राज्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। राजा अगर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करता हो तो उसके न्याय को शिरोधार्य करना ही चाहिए। अगर राजा अन्याय करता हो तो उस अन्याय को दूर करने के लिए नैतिक बल से उसका विरोध करना ही कर्त्तव्य है।

आज लोगो मे नैतिक बल की कमी है और जिनमे नैतिक बल की कमी होती है, उनसे भलीभाँति धर्म का पालन नहीं हो सकता। नैतिक बल होने पर ही धर्म का पालन हो सकता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय की बात कह रहा हूँ, उस समय भारत में अगरेजी राज्य फैल गया था। उस समय रामचन्द्र नामक एक सिख गुरु सत्य का उपदेश देकर धर्मप्रचार कर रहा था। सत्य का पालन करो, बस यही उसके उपदेश का मूल मन्त्र था। अपने मन को न ठगना ही सत्य है, ऐसा वह अपने उपदेश में कहता था। रामचन्द्र गुरु के इस उपदेश की जनसमाज पर अच्छी छाप पड़ी और बहुत-से लोगों ने सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली। सत्यपालन की प्रतिज्ञा लेने वालो में कूका नामक एक जाट भी था। वह जाट भी

रामचन्द्र का शिष्य बन गया और सत्य बोलने का अभ्यास करने लगा।

उन दिनों अम्बाला में हिन्दुओं को सताने के लिए मुसलमानों ने गायों को कत्ल करना आरम्भ किया। मुसलमानों ने विचार किया-इस समय अंगरेजो का राज्य है, इस कारण कोई किसी के धर्म में विक्षेप नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना धर्म पालने में स्वतन्त्र है। इस प्रकार विचार कर उन मुसलमानों ने गायों का एक जुलूस निकाला और उन्हे कत्ल करने के लिए नियत स्थान पर ले गए। हिन्दुओं ने ऐसा दुष्कृत्य न करने के लिए उन्हे बहुत समझाया पर उन्होंने एक न सुनी। तब कुछ हिन्दुओं ने विचार किया कि समझाने-बुझाने पर भी गायो को कत्ल करने वाले यह मुसलमान अपनी करतूत से बाज़ नहीं आते, ऐसी हालत में रात्रि के समय इन्हे मार डालना चाहिए। कूका जाट ने और दूसरे हिन्दुओ ने रात के समय उन पर हमला कर दिया और निद्रावस्था में ही उन्हे मार डाला। यह समाचार जब रामचन्द्र गुरु के पास पहुँचा तो उन्होंने ऐसा कृत्य करने वालो की निंदा की और ऐसा करना कायरता है, यह घोषणा की। रात्रि के समय निद्रावस्था मे किसी को मार डालना वीरता नहीं, कायरता ही है।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो क्लेश हुआ सो कचहरी तक पहुँचा। पुलिस ने कितने ही आदमियो की धरपकड़ की। मगर जो लोग पकड़े गये थे, उनमें बहुत से निरपराध थे। सरकार को यह विश्वास हो गया था कि हिदुओ ने मुसलमान कसाइयों को मारा है। इस विश्वास के कारण न्यायाधीश ने सभी पकड़े जाने वालों को प्राणदंड की सजा दे डाली। जब रामचन्द्र गुरु के कानों तक यह बात पहुँची तो उन्होने कहा—यह तो बहुत बुरा हुआ।

बेचारे निर्दोष मनुष्य मारे जाएँगे ! जिन्होंने मुसलमानों को मारा है वही लोग अगर अपना अ राध स्वीकार कर लें तो निर्दोष लोगों के प्राण बच सकते हैं ! अ पना अपराध स्वीकार कर लेना भी वीरता ही है। रामचन्द्र गुरु का यह कथन कूका जाट ने सुना। कूका ने गुरु से कहा–आपने मुझे सत्य बोलने की शिक्षा और प्रतिज्ञा दी है। अगर कोई मुझसे पूछे तो मुझे सत्य ही बोलना चाहिए, यह बात मै पसन्द करता हूँ। इसी कारण अपराधी होने पर भी मैं कुछ कहता-बोलता नहीं हूँ। अब आप कहते है कि अपना अपराध स्वीकार करना भी सत्य और वीरता है, तो मैं आपके समक्ष स्वीकार करता हूँ कि जो लोग पकड़े गये हैं और जिन्हे मौत की सजा मिली है उन्होंने कसाइयों की हत्या नहीं की। कसाइयों की हत्या मैंने और मेरे साथियों ने की है। इस समय जो लोग पकडे गये हैं वे बेचारे निर्दोष है ।

कूका की बात सुनकर रामचन्द्र गुरु बोले—अगर वास्तव में यही बात है और तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है तो तुम सरकार के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लो और निरपराध लोगों के प्राण बचाओ।

रामचन्द्र गुरु का कथन सुनकर कूका ने कहा—'मैं अपना अपराध तो स्वीकार कर लूँगा मगर अपने साथियों के नाम नहीं बताऊँगा। क्योंकि मैंने उन्हे वचन दिया है कि अगर मै पकड़ा गया तो भी उनका नाम नहीं बताऊँगा।' रामचन्द्र गुरु बोले—'तुम सरकार को यही उत्तर देना कि मैंने और मेरे साथियों ने यह दुष्कृत किया है, मगर मै अपने साथियों के नाम बताने की स्थिति मे नहीं हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस समय जिन लोगो को अपराधी समझकर मौत की सजा बोली गई है, वे लोग निर्दोष है।'

कूका ने गुरु से पूछा—तो क्या मैं स्वयं ही सरकार के पास चला जाऊँ ? गुरु ने कहा—अगर तुममें सत्य बात को स्वीकार करने का साहस है तो फिर सरकार के सामने अपना अपराध स्वीकार करने में क्या बाधा है ?

कूका पुलिस-प्रधान के पास जा पहुँचा। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। पुलिस के अनेक प्रलोभन देने पर भी उसने अपने साथियों के नाम प्रकट नहीं किये। पुलिस ने यहाँ तक कहा कि अगर तू अपने साथियों के नाम प्रकट कर दे तो तू फाँसी की सजा से बच जाएगा। मगर कूका अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ। उसने कहा—आप मुझे फाँसी पर चढ़ा सकते हैं, मगर मैं अपने साथियों के नाम जाहिर नहीं कर सकता।

कहने का आशय यह है कि कूका ने सत्य की प्रतिज्ञा पालने के लिए अपने प्राण दे दिये। यह तो ऐतिहासिक घटना है। आर्हत दर्शन में तो सत्य को ही प्रधान पद दिया गया है। परन्तु तुम लोग जैनदर्शन के श्रद्धालु होते हुए भी, नैतिक बल के अभाव में, दूसरों को बुरा न लगने देने के लिए भी असत्य बोलते हो! वास्तव में वही सत्यभाषी हो सकता है, जिसमें साहस विद्यमान हो। जिसमें साहस नहीं, वह सत्य नहीं बोल सकता। सत्यभाषण में सदैव लाभ ही है।

साराश यह है कि जिस व्यक्ति में विषयलालसा होती है, उसी के द्वारा हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म होते हैं। विषय-वासना से विमुख हो जाने पर पापकार्य नहीं होते। जो व्यक्ति विषयलालसा का त्याग कर देगा, वह किसलिए पाप करेगा ? अतएव पापकर्मों से बचने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय

प्राप्त करो। विषयलालसा को जीत कर मन को जितना अधिक पवित्र बनाओगे, तुम परमात्मा के उतने ही अधिक समीप पहुँच जाओगे। कदाचित् पहले के कोई कर्म बचे होंगे तो उनकी भी निर्जरा हो जाएगी। पापकर्मों को दूर करने के लिए, पापकर्मों की जड़-विषय-लालसा का उच्छेद करने का प्रयत्न करो। अगर तुम विषयवासना को जीतने जाओगे और व्रत पालन में दृढ़ रहोगे तो परमात्मा का साक्षात्कार होगा और आत्मा का कल्याण होगा। स्मरण रहे, पाप को छिपाने से पाप दूर नहीं होता। कदाचित् पाप हो जाय तो उसे छिपाओ मत। उसे हटाने का प्रयत्न करो। ससार के जाल में से छूटने का यही मार्ग है।

तेतीसवाँ बोल ।

संभोगप्रत्याख्यान

विषयसुख से पराङ्मुख होना भी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति का एक उपाय है । जो लोग विषयसुख से पराङ्मुख हो जाते हैं, उनके भाव उच्च बनते हैं, उनकी परमात्मप्रीति दृढ़ होती है और वे संभोग का त्याग करके स्वावलम्बी बनते हैं । अतएव गौतम स्वामी अब यह प्रश्न पूछते हैं कि संभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न–संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति, सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परस्स लाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव परावलम्बन का क्षय करता है और उस स्वावलम्बी जीवात्मा के योग उत्तम अर्थ वाले हो जाते हैं। वह आत्म-लाभ से ही संतुष्ट रहता है, पर के लाभ की आशा नहीं करता, एवं कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना अथवा अभिलाषा भी नहीं करता। इस प्रकार जीवात्मा अस्पृही-अनभिलाषी बनकर उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है।

व्याख्यान

संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सभोग का अर्थ क्या है ?

जिस समान मिलन से अपना और दूसरों का कल्याण होता हो, उस समान मिलन को सभोग कहते हैं। इसके विपरीत जिस मिलन से स्व-पर का अकल्याण होता हो वह विसंभोग कहलाता है। मिलन चार प्रकार का है। श्रीस्थानांगसूत्र मे मिलन की चौभंगी बनाकर कहा गया है—

(१) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभकारक होता है किन्तु लम्बे समय के लिए हानिकारक होता है।

(२) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभप्रद होता है और थोड़े समय के लिए हानिकर होता है।

(३) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी लाभकारक होता है और थोड़े समय के लिए भी लाभकारक होता है।

(४) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी हानिकर होता है और थोड़े समय के लिए भी हानिकर होता है।

यहाँ जो बात कही गई है, वह साधुओं से सम्बन्ध रखती है। साधुओं में कोई संभोगी और कोई विसंभोगी होता है। शास्त्र मे संभोगी और विसंभोगी दोनो प्रकार के साधु कहे गये हैं। कुछ लोगो का कहना है कि साधु होने के बाद साधुओ मे आपस में भेद क्यो रक्खा जाता है? साधुओं को तो एक-रूप हो जाना चाहिए। उन्हें एक साथ ठहरना और एक साथ आहार करना चाहिए। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि यह कथन एकान्ततः ठीक होता तो शास्त्र में साधुओं के संभोगी और विसंभोगी भेद न किये गये होते। शास्त्र में कहा है कि किसी के साथ संभोग करने से गुण की वृद्धि होती हो तो वह सभोग रखना चाहिए, अन्यथा विसंभोगी होकर रहना ही अच्छा है। अगर किसी के सभोग से अपने गुणों की हानि होती हो तो उस संभोगी को भी विसंभोगी बना लेना चाहिए। साधुओं मे से कोई साधु अगर साधुता के मार्ग से हट गया हो तो उसे यही कहा जा सकता है कि तुम साधुता का मार्ग अंगीकार करो अन्यथा हम तुमसे विसंभोगी बन जाएँगे! जब शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सब साधुओ को एक-रूप होकर ही रहना चाहिए!

मान लीजिए, कोई आदमी अपनी थाली मे कन्दमूल लेकर भोजन करने वैठा है और तुम कन्दमूल के त्यागी होने के कारण अलग थाली में भोजन करने वैठे हो। अब वह आदमी तुमसे कहता

है—'मेरे साथ ही भोजन करने बैठो।' तुमने उत्तर दिया—'मैं कन्द-मूल का त्यागी हूँ, अतएव तुम्हारे साथ एक ही थाली में भोजन करने कैसे बैठ सकता हूँ ? अगर तुम अपनी थाली में से कन्दमूल हटा दो तो मै तुम्हारे साथ जीमने बैठ सकता हूँ।' तब वह आदमी कहता है—'मैं अपनी थाली में से कन्दमूल नहीं हटा सकता।' ऐसी स्थिति में तुम उसे क्या उत्तर दोगे ? तुम यही कहोगे कि अगर तुम्हे ऐसा ही करना है तो हम लोग अलग अलग ही जीमने बैठे यही ठीक है। इस प्रकार जब तुम अलग जीमने बैठे तो वह कहता है—'तुम अलग बैठकर आपस में फूट फैलाते हो।' इस कथन का उत्तर यही दिया जा सकता है कि-कुछ भी हो, केवल तुम्हे मनाने के लिए मै अपने नियमों का उल्लघन नहीं कर सकता।

इस प्रकार यदि तुम भी अपने नियम का पालन करने के लिए असमान आहार-विहार करने वाले के साथ भोजन करने नहीं बैठ सकते, तो फिर साधुता के नियमो का ठीक तरह पालन न करने वाले साधुओं के साथ हम सभोग कैसे चालू रख सकते है ? कोई मोती असली और कोई नकली होता है। तो क्या असली और नकली मोती को एक सरीखा माना जा सकता है ? क्या असली और नकली मोती को एक ही हार में पिरोया जाना उचित है ? अगर नहीं, तो फिर साधुओं के विषय में भी यही समझ लेना चाहिए। निश्चय में तो कौन मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु व्यवहार में तो देखना ही पड़ता है कि अमुक साधु मे साधुता का गुण है या नहीं ? जो साधु समान रूप से साधुता के नियमों का पालन करते हैं, उनके साथ तो संभोगव्यवहार चालू रह सकता है, परन्तु जो साधु साधुता के नियमों की अवहेलना करते हैं, उनके साथ संभोग-व्यवहार किस प्रकार चालू रह सकता है ?

संभोग किसे कहना चाहिए, इस विषय में टीकाकार कहते हैं कि एक मंडल में बैठकर साथ-साथ आहार करना संभोग कहलाता है। ऐसा करने से अपने गुणों का लाभ होता हो तो संभोग चालू रखना उचित है। अगर गुणों की हानि होती हो तो विसंभोगी बनकर रहना ही अच्छा है। विसंभोग का तो त्याग नहीं होता, परन्तु संभोग का ही त्याग होता है। अतएव यहाँ संभोग के त्याग करने का ही फल पूछा गया है। परन्तु यहाँ विशेष रूप से देखना यह है कि किस दशा मे सभोग का त्याग किया जा सकता है ? इस विषय में शास्त्र में कहा गया है कि साधु जब भलीभाँति पढ़-लिखकर गीतार्थ हो गया हो, तब वह जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी अन्य उच्च वृत्ति का धारक बन कर संभोग का त्याग कर सकता है, अन्यथा नहीं।

कतिपय एकलविहारी साधु शास्त्र में वर्णित सभोग त्याग का उल्लेख करके कहते हैं कि हमने भी शास्त्र के कथनानुसार संभोग का त्याग किया है और हम अकेले रहते हैं। परन्तु ऐसा कहने वाले एकलविहारी साधु शास्त्र के नाम पर धोखा देते है और अपना बचाव करते है। श्रीस्थानांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

अट्ठहिं ठाणेहि संपन्ने अणगारे अरही एगलविहारी पडिमं उवसंपज्जिता णं विहरित्तए।

अर्थात्—जिस साधु में आठ गुण हों, वही साधु पडिमा धारण करके अकेला रह सकता है। परन्तु जिसमें यह आठ गुण न हों वह अकेला नहीं रह सकता। इस पर से यह बात समझने योग्य है कि साधु कब और कैसी अवस्था में अकेला रह सकता है ? जिन

गुणों की विद्यमानता में संभोग का त्याग करना बतलाया गया है, वह गुण अपने में न होने पर भी सभोग का त्याग करके अकेला रहना और फिर शास्त्र की आड मे अपना झूठा बचाव करना सर्वथा अनुचित है। एकलविहारी साधु शास्त्र का प्रमाण पेश करते है और शास्त्र का प्रमाण तुम्हें भी मान्य होना चाहिए। तुम भी श्रावक हो। शास्त्र में कहा है:—

निग्गंथे पावयणे पुरओ काउं विहरति ।

अर्थात्—साधु और श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन को समक्ष रखकर विचरते हैं। अतएव तुम भी शास्त्र का अध्ययन करो और देखो कि किस अवस्था में साधु अकेला रह सकता है। अगर तुम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करोगे तो कोई एकलविहारी साधु शास्त्र का नाम लेकर तुम्हें ठग नहीं सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु गीतार्थ हो चुका हो, वही जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी उच्च वृत्ति का धारक बनने के लिए सभोग का त्याग कर सकता है और उग्र विहार कर सकता है। साधु जिनकल्पी हो, प्रतिमाधारी हो या किसी उच्च वृत्ति को धारण करने की इच्छा वाला हो तो ही वह संभोग का त्याग कर सकता है। ऐसे उच्च साधु को, ऐसे अवसर पर संभोग का त्याग क्यों करना पड़ता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ:—

कल्पना करो, एक मनुष्य ब्याज बट्टे का धंधा करता है। उसने अधिक लाभ की इच्छा से अपना धधा बन्द करके जवाहरात का व्यापार करने का विचार किया। ब्याज-बट्टे के धंधे में उसे लाभ तो होता था, परन्तु उत्कृष्ट लाभ प्राप्त करने के लिए उसे ब्याज का

धंधा बन्द करना आवश्यक हो गया। इसी प्रकार जब कोई उच्च श्रेणी का लाभ होता हो तभी संभोग का त्याग किया जाता है। संभोग का त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि संभोग में ही रहना बुरा है। साधारण रूप से तो साधु को संभोग में ही रहना चाहिए, परन्तु अगर अपने में विशिष्ट शक्ति हो और उत्कृष्ट लाभ पाना हो तो संभोग का त्याग करना लाभप्रद है।

संभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—संभोग का त्याग करने से जीव आलम्बन रहित बनता है। साधु जब संभोग में रहता है तो उसे अन्य साधुओं का सहारा रहता है। वह सोचता है—'मै बीमार हो जाऊँगा तो जिन साधुओं के साथ मैं संभोग करता हूँ, वे साधु मेरी सेवा करेंगे।' संभोग का त्याग कर देने से उसे इस प्रकार का आलम्बन नहीं रह जाता।

मृगापुत्र की माता ने मृगापुत्र से कहा था—हे पुत्र! तू दीक्षा तो लेता है, मगर दीक्षा लेने के बाद 'दुक्ख निप्पडिकम्मया' अर्थात् जिनकल्पी आदि दशा प्राप्त होने के पश्चात् जब बीमारी उत्पन्न होती है तो बडी ही कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि जिन-कल्पी होने के बाद बीमारी मिटाने के लिए दवा भी नहीं ली जा सकती।

मृगा माता के इस कथन के उत्तर में मृगापुत्र ने कहा—हे माता! ऐसा दुःख आलम्बन लेने वाले को ही होता है। जो आलंबन का त्याग कर चुकता है उसे दुःख का अनुभव नहीं होता। मैं राज-पुत्र हूँ, इस कारण मेरी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु ससार में ऐसे

अनेक प्राणी हैं जिनकी बीमारी दूर करने के लिए दवा ही नहीं की जाती। वन में रहने वाले मृगों को जब बीमारी होती है तो वे वन में क्या करते हैं ? वे मृग एकान्त में, किसी वृत्त के नीचे बैठ जाते हैं और जब तक रोग शान्त नहीं हो जाता तब तक वहीं बैठे रहते हैं। रोग शान्त हो जाने पर वे स्वय उठकर चरने चले जाते हैं। उन मृगों को यह आशा ही नहीं होती कि कोई आकर हमारी सेवा करेगा और यह आशा न रखने के कारण उन्हे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। मैं भी उन मृगों के समान निरालम्बी रहूँगा और निरालम्बी रहने के कारण व्याधि उत्पन्न होने पर भी मुझे भी दुःख नहीं होगा।

इस प्रकार सभोग का त्याग करने से साधु निरालम्ब बनता है। निरालम्ब बनने का अर्थ ही सभोग का त्याग करना है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि संभोग का त्याग करने वाला, साधुओं का आलम्बन तो न लेवें और उसके बदले गृहस्थों का आलम्बन ले और उनसे अपनी सेवा करावे। कहा जा सकता है कि गृहस्थों का आलम्बन लिए बिना हमारा काम नहीं चल सकता, क्योंकि हममें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि दूसरे के आलम्बन के बिना ही हम अपना काम चला सकें। ऐसा कहने वाले को यही उत्तर देना चाहिए कि अगर तुममें आलम्बन लिये बिना काम चलाने की शक्ति ही नहीं है तो तुमने सभोग का त्याग ही क्यों किया ? और जब तुमने संभोग का त्याग कर दिया है तो संभोग त्याग का उद्देश्य ही निरालम्बी बनना है। अब किसी का आलम्बन लेने की क्यों आवश्यकता होनी चाहिए ?

भगवान् कहते हैं—सभोग का त्याग करने से निरालम्बी बन सकते है। अवलम्बन लेने से तिरस्कार वृत्ति उत्पन्न होती है।

अतएव संभोग का त्याग करने वाला स्वावलम्बी बनता है अर्थात किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। कवि कालीदास ने रघुवशी राजा का वर्णन करते हुए कहा है—

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ।

अर्थात्—अपनी रक्षा करने में आप समर्थ होने के कारण रघुवंशी राजा अकेला वन में गया।

यद्यपि राजा व्यावहारिक दृष्टि से अपने साथ रक्षक रखता था परन्तु उसे अपने ऊपर ऐसा विश्वास था कि रक्षक मेरी रक्षा नहीं कर रहे है, वरन् मै स्वय इतना समर्थ हूँ कि रक्षकों की भी रक्षा कर सकता हूँ। इस प्रकार वह रघुवंशी राजा अपनी और दूसरो की रक्षा करने में समर्थ था और इसी कारण वह अकेला ही वन में गया था।

इस प्रकार जिसमे आलम्बनरहित रहने की क्षमता होती है और जो किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, वही संभोग का त्याग कर सकता है। अतः आलम्बन का त्यागी ही संभोग का त्यागी कहलाता है।

प्रजा उसी राजा का सन्मान करती है जो राजा अपनी और प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है। जो राजा स्वयं अपनी सेवा दूसरो से कराता हो उसे प्रजा कायर कहेगी और उसका प्रजा पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा। इसी प्रकार स्वावलम्बी होने से और अपनी रक्षा में स्वयमेव समर्थ होने से और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने से ही साधु संभोग का त्यागी कहलाता है।

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरों का काम करने में समर्थ होता है, वही व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। और दूसरों पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो।

विराट नगरी में अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी-प्रकट हुए थे। वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ धूमधाम के साथ कर रहे थे। इस विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी विराट-नगरी में आई हुई थीं। विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानियाँ वापिस द्वारिका लौटने लगीं तो द्रौपदी उन्हें विदा करने गई। श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी। इसीलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है। भोली सत्यभामा ने रास्ते में द्रौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ। द्रौपदी ने उत्तर में कहा–तुम मुझसे बड़ी हो और तुम्हें मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार है।' तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—'मेरे एक ही पति हैं, फिर भी वह मेरे वश में नहीं रहते। और तुम्हारे पाँच पति हैं फिर भी वे पाँचों तुम्हारे वश में रहते हैं। अतएव मैं पूछना चाहती हूँ कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पाँचों पतियों को अपने वश में रख सकती हो? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखादो न?

द्रौपदी ने उत्तर दिया—मैं ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हूँ, परन्तु जान पडता है, कोमलांगी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नहीं सकोगी।

सत्यभामा कहने लगी—मैं उस मन्त्र को अवश्य साध सकूंगी। मुझे अवश्य वह मन्त्र बता दो। मुझे उसकी बड़ी आवश्यकता है।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नहीं होती? उसे तो सभी चाहते है। पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश मे करना चाहते है। मगर यह मन्त्र जब साध लिया जाय तभी सब को वश में किया जा सकता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा—मैं वशीकरण मन्त्र द्वारा सब को अपने वश मे रखती हूँ। वह मन्त्र यह है कि स्वयं दूसरे के वश में रहना। इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश मे कर सकती हो। इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है। मंत्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था—'पति के उठने से पहले उठ जाना।' फिर पति की आवश्यकताएँ अपने हाथ से पूरी करना। दास दासियो के भरोसे न बैठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना और दास-दासी की अपेक्षा अपने आपको बड़ी दासी समझना। इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना। बडों-बूढ़ों की मर्यादा रखना। सब की सेवा-शुश्रूषा करना और सब को भोजन कराने के बाद आप भोजन करना। इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना। काम करते-करते फुर्सत मिल जाय तो सब को कर्त्तव्य और धर्म का भान कराना। इस प्रकार कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना। यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय है। इस उपाय से मन्त्र की

अच्छी तरह साधना की जाय तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनों को अपने अधीन किया जा सकता है। अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश में हो जाएँगे।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करो। साहस और शक्ति के साथ मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र साधन का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हे जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हे आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियों से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओ का शिक्षण सपादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम तो परतन्त्रता में और दूसरो के हाथो काम कराने में ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने में और दूसरों के हाथों से काम कराने मे कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने में कम पाप लगता है या दूसरे से कराने में, इस बात का अगर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हे विश्वास हो जायगा कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता मे दुःख है। पाप परतन्त्र दशा में अधिक होता है और स्वतन्त्रदशा मे कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मंत्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा—दूसरों के वश में रहना सच्चा वशीकरण है और पति सेवा मे सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्त्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब

को अपने वश में कर सकोगे। यह मंत्र तो विश्व को वश मे करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम आप करके दूसरों का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरों को गुलाम रखने वाला स्वयं गुलाम बनता है।

कहते है, भारत का पहला लॉर्ड क्लाइव जब ढाका के नवाब से मिलने गया तो नवाब ने अपने दरबार में गुलामों को सुन्दर वस्त्र पहना कर एक कतार में खडा किया था और गुलामो को नीचे झुका-कर सलामी दी थी। नवाब जब क्लाइव से मिला तो उसने क्लाइव से पूछा—तुम अपने बादशाह को बहुत बडा कहते हो तो उसके पास कितने गुलाम हैं ? लार्ड ने उत्तर दिया—'हमारे बादशाह के पास एक भी गुलाम नहीं है।' नवाब ने कहा—'तो फिर बादशाह बडे क्यों कहलाते है ?' लॉर्ड ने कहा—हमारे बादशाह के पास यों तो गुलाम बहुत हैं, पर वे शरीर से नहीं, मन मे हैं। जो शरीर से ही गुलाम होता है और मन से गुलाम नहीं होता अर्थात् जो मन मे स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं है। वास्तव मे गुलाम वही है जो मन से गुलाम है।

आशय यह है कि द्रौपदी के कथनानुसार जो स्वावलम्बी बनता है वही सभोग का त्याग कर सकता है। सभोग का त्याग करने के लिए अपने बल-अबल का विचार पहले करना आवश्यक है। शास्त्र कहता है कि अगर आज तुममें सभोग का त्याग करने की शक्ति नहीं है तो सभोग का त्याग करने वाले जिनकल्पी महात्माओं का आदर्श दृष्टि के सामने रक्खो और उनके समान बनने का प्रयत्न करो। इसी मे कल्याण है।

यह तो बतलाया जा चुका है कि सभोग का त्याग करने से निरवलम्ब अवस्था प्राप्त होती है। सभोग पारस्परिक लाभ के लिए किया जाता है फिर भी उसमें परतन्त्रता तो है ही। अतएव साहस और शक्ति हो तो इस परतन्त्रता को दूर करने के लिए सभोग का त्याग करना आवश्यक है। जहाँ लाभ होता है वहाँ परतन्त्रता भी होती है। अतः स्वाधीन बनने के लिए उस लाभ से वचित रहना और संभोग का भी त्याग करना आवश्यक है।

सभोग मे रहने से दूसरों का आलम्बन लेना पडता है। अगर सभोग का त्याग कर दिया जाय तो निरालम्ब बन सकते है। सभोग का त्याग करना शक्ति और साहस पर निर्भर करता है। शक्ति और साहस न हो तो सभोग का त्याग करना अनिवार्य नहीं है। आज आपसे रेल में बैठने का त्याग करने के लिए कहा जाय तो क्या आप त्याग कर सकेंगे ? आप यही कहेंगे कि रेल में बैठने का त्याग करने से हमारा काम नहीं चल सकता। मगर तुम्हारे पूर्वजों का काम रेल के बिना चल सकता था या नहीं ? अगर उनका काम चल सकता था तो तुम्हारा काम क्यों नहीं चल सकता ? इससे यही मालूम होता है कि साधनों की अधिकता से शक्ति का नाश होता है। अतएव साधनों का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए।

संभोग के त्याग से आलम्बन का त्याग होता है। आलम्बन के त्याग से आयत अर्थ की सिद्धि होती है अर्थात् संभोग और आलम्बन का त्याग करने से सयम और मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नहीं रहता। सभोग के त्याग से प्रत्यक्ष लाभ यह होता कि अपने ही लाभ से सतुष्टि होती है और दूसरे के लाभ की आशा नहीं रहती। फलस्वरूप हृदय मे ऐसा संकल्प-विकल्प पैदा नहीं होता

कि कोई मुझे अमुक वस्तु दे, अमुक ने अमुक वस्तु क्यों न दी, अथवा मुझे दूसरे से अमुक वस्तु मिल जाय ! इस दशा में 'हमारा अमुक काम करदो' इस प्रकार की प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ती। जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है उसी को दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है। जिसे दूसरे से सहायता लेने की इच्छा ही नहीं है और जो दूसरे के लाभ की आशा ही नहीं रखता, वह दूसरे के सामने प्रार्थी क्यों बनने लगा ? इसी प्रकार जो साधु सभोग का त्याग करके निरवलम्बी, निर्विकल्पी, अप्रार्थी, अस्पृही और अनभिलाषी बनता है, वह साधु श्रीस्थानांगसूत्र में कही हुई उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है।

जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते हैं। शय्या दो प्रकार की है—सुखशय्या और दुःखशय्या। दूसरे के आधार पर रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है। और जो अपने ही आधार पर रहता है, दूसरों का आधार नहीं लेता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। दूसरों के आधार पर रहना पराधीनता है और अपने आधार पर रहना स्वाधीनता है। पराधीनता के समान और कोई दुःख नहीं तथा स्वाधीनता के समान दूसरा सुख नहीं। पराधीनता के साथ खाने को मिष्टान्न मिलना भी अच्छा नहीं। उसकी अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक मिला हुआ रूखा, सूखा रोट ही अच्छा है। स्वतन्त्रता में जो आनन्द है वह परतन्त्रता में स्वप्न में भी संभव नहीं।

आज लोग स्वतन्त्रता को भूल गये हैं और लकीर के फकीर की भाँति बहुत से लोग जो कार्य करते हैं, उसी को करने बैठ जाते है। परन्तु यह उनकी भूल है। अधिक लोग जो काम करते हैं, वह करना ही चाहिए, यह ठीक कैसे कहा जा सकता है ? क्या अधिक संख्या में लोग अप्रामाणिक और विश्वासघाती नहीं हैं ? क्या इनका

अनुकरण करना उचित कहा जा सकता है ? अतएव इस धारणा का त्याग कर दो कि बहुजनसमाज जो कार्य करता है वही कर्त्तव्य है। बहुजनसमाज के कार्यों की नकल न करके जिससे आत्मा का कल्याण हो, वही करना चाहिए।

शास्त्रानुसार स्वाधीनता में ही सुख है। यह बात दूसरी है कि आज लोग परवश हो जाने के कारण तत्काल पराधीनता का त्याग नहीं कर सकते, फिर भी स्वतन्त्रता को भूल तो नहीं जाना चाहिए। स्वाधीनता का आदर्श तो अपनी नजर के आगे रखना ही चाहिए। जो लोग पराधीनता को ही सर्वस्व मान बैठते हैं और स्वाधीनता को सर्वथा भूल जाते हैं, उनका परतन्त्रता के दुःख से मुक्त होना कठिन है। अगर स्वाधीनता का आदर्श दृष्टि के समक्ष रक्खा जाय और उस आदर्श पर पहुँचने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाय तो एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि पराधीनता के दुःख का अन्त हो जायगा। स्वाधीनता के सिद्धान्त को सर्वथा भुला देने से पराधीनता के दुःख से छुटकारा मिलना कठिन है।

कल्पना करो, एक कैदी को कैदखाने में बन्द कर दिया गया है और एक पागल को पागलखाने में डाल दिया है। अब यह दोनों अपने बन्धन से कब छूट सकते हैं ? कैदी की तो कैदखाने से छूटने की अवधि निश्चित है किन्तु पागल का दिमाग जब शान्त और स्थिर होगा तभी वह पागलखाने से छूट सकेगा। दिमाग शान्त और स्थिर हुए बिना वह पागलखाने से छुटकारा नहीं पा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी में भी इसी प्रकार का अन्तर है। अपराध तो ज्ञानी से भी हो जाता है परन्तु ज्ञानी के अपराध के दण्ड की अवधि होती है और अज्ञानी के दंड की अवधि नहीं होती। अतएव जब अज्ञानी

का अज्ञान मिटता है तभी वह दुःख से छूटता है। इस प्रकार अज्ञानता एक प्रकार का पागलपन है। अतएव स्वतन्त्रता क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त करो।

एक लेख मे मैंने देखा था—किसी जगह पागलखाने मे आग लग गई। कुछ दयालु लोग पागलों को बाहर निकालने के लिए दौडे आये। मगर पागल तो आग को देखकर उलटे आनन्द मनाने लगे। कहने लगे—यहाँ और दिन तो एक-दो ही दीपक जलाये जाते थे पर आज हजारो दीपक जलाये जा रहे है। ऐसे प्रकाशमय स्थान से हमे बाहर क्यो निकाला जा रहा है ?

अगर तुम वहाँ होते तो यही कहते कि यह पागल कितने मूर्ख है कि विनाश को भी प्रकाश मान रहे है ! आह ! लोगो की दशा कितनी दयनीय है !

पागल भ्रम मे फँसे होने के कारण ही विनाश मे आनन्द मान रहे हैं। इसी प्रकार आज की जनता भी ऊपरी भपके के भ्रम मे पडी है और इसी कारण लोग ऊपरी भपका बढ़ाने मे ही आनन्द मान रहे है। ऐसे लोगो से ज्ञानी जन कहते है—इस ऊपरी भपके के भ्रम से बाहर निकलो अन्यथा इस भपके के भड़के मे ही भस्मीभूत हो जाओगे। ज्ञानी जन तो इस प्रकार चेतावनी देकर दिखावटी फैशन के चक्कर में से लोगो को निकालने का प्रयत्न करते है, मगर शौक़ीन लोग ज्ञानियो की चेतावनी की अवगणना करते है। इस अवगणना के फलस्वरूप उन्हे दुःख ही सहन करना पड़ता है, क्योंकि फैशन बढ़ने से पराधीनता बढती है और पराधीनता मे दुःख है।

स्वामी विवेकानन्द यूरोप-अमेरिका आदि देशों में धर्मप्रचार करके जब भारत लौटे, तो उन्होंने अपने अनुभव बतलाते हुये एक भाषण में कहा था—इस समय सारा यूरोप ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह ज्वालामुखी कब फटेगा और कब यूरोप का विनाश होगा! इसी प्रकार आज का फैशन भी ज्वालामुखी के शिखर तक पहुँच चुका है। इस फैशन की बदौलत कब विनाश का आगमन होगा, यह नहीं कहा जा सकता। आज कितनेक लोग पैरिस आदि पाश्चात्य नगरों में जाकर और वहाँ की ऊपरी तडकभड़क देखकर कहने लगते हैं—सारा मज़ा तो बस, यहीं है! हम लोग तो अभी जंगली दशा में हैं। ऐसा मानने वाले लोगों को यह भान नहीं है कि इस तड़कभडक के पीछे कैसी और कितनी परतन्त्रता छिपी हुई है! जिन्होंने इस तडकभडक का त्याग कर दिया है उन्हे तुम मूर्ख मानते हो। मगर यदि तुम इस बात का गम्भीर विचार करोगे कि इस तड़कभडक से स्वतन्त्रता मिलती है या परतन्त्रता मिलती है, तो अपने पूर्वजों को मूर्ख नहीं कहोगे। वास्तव में तुम ऊपरी तडकभडक का त्याग करने वाले अपने पूर्वजो को मूर्ख कहकर अपनी मूर्खता का ही परिचय देते हो।

आज स्वतन्त्रता की भावना क्षीण हो गई है और इसी कारण त्यागशील पूवजो को मूर्ख समझा जाता है। उदाहरणार्थ—हरिश्चन्द्र के विषय में कहा जाता है कि उसने अपना राज्य एक अयोग्य व्यक्ति को सौंप दिया, यह मूर्खता नहीं तो क्या है? मगर जिसने इतना महान और अपूर्व त्याग किया उसे मूर्ख कहना क्या उचित है? हरिश्चन्द्र ने कदाचित् वचनबद्ध होने के कारण अपने राज्य का त्याग किया था, परन्तु शास्त्र में तो यहाँ तक कहा है कि—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं ॥
इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती भगवं पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १८, गा० ३९-४०

अर्थात्—जिनका सम्पूर्ण भरतखण्ड पर अधिकार था, उन भगवान् शान्तिनाथ और भगवान् कुन्थुनाथ ने अपनी समस्त ऋद्धि का त्याग किया था ।

उन्होंने यह त्याग क्यों किया था ? उनके त्याग का यही कारण था कि उन्हें उस ऋद्धि में परतन्त्रता प्रतीत हुई थी । उस ऋद्धि मे उन्हे स्वतन्त्रता नहीं मालूम हुई । उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही राज्य की ऋद्धि का त्याग किया था ।

भगवान् शान्तिनाथ चक्रवर्त्ती राजा थे, फिर भी उन्होंने शान्ति प्राप्त करने के लिए राजपाट त्याग दिया । त्याग से ही शान्ति मिलती है । भोग से कभी किसी को न शान्ति मिली है, न मिलती है और न मिलेगी । अतएव भगवान् शान्तिनाथ ने शान्ति प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया है, उसे जीवन मे स्थान देने से ही वास्तविक कल्याण होगा ।

यह आशंका उठाई जा सकती है कि हम लोग अगर शांति धारण करके बैठ रहे तो बदमाश लोग हमे शान्त कैसे रहने देंगे ? इसका उत्तर यह है कि अगर तुम्हारे भीतर वास्तविक शान्ति होगी तो कोई दूसरा तुम मे अशान्ति उत्पन्न कर ही नही सकता ।

अशान्ति तो अपने भीतर मौजूद अशान्ति के कारण ही होती है। अतएव शान्ति प्राप्त करने के लिए त्याग-भावना को अपनाना चाहिए। तुम त्याग तो करते हो मगर त्याग की पद्धति ठीक न होने के कारण तुम्हे शान्ति प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ—एक किसान गीली जमीन में बीज बोता है और दूसरा सूखी जमीन मे। गीली जमीन मे बोया हुआ बीज तो अंकुरित हो जाता है, पर सूखी जमीन मे बोया बीज जल के अभाव में कैसे अंकुरित हो सकता है? इसी प्रकार तुम लोग जो त्याग करते हो वह सूखी जमीन मे बोये बीज की तरह निष्फल जाता है। त्याग निष्फल हो जाने से तुम्हे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अगर कोई पदार्थ अहकारपूर्वक त्यागा जाता है तो वह त्याग शान्ति देने वाला और परमात्मा के शरण में ले जाने वाला सिद्ध नहीं होता। शान्ति देने वाला सच्चा त्याग तो वही है जो बिना किसी अभिमान के, परमात्मा को समर्पित कर दिया जाय! परमात्मा को समर्पित करने की दृष्टि से किया हुआ त्याग हमेशा फलदायक होता है, क्योंकि इस प्रकार त्याग करने वाले को किसी दिन पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता।

मान लो, तुमने किसी मनुष्य को हजार रुपया उधार दिये। उधार लेने वाले ने दिवाला निकाल दिया। ऐसी स्थिति में तुम्हें हजार रुपये के लिए पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है। इसके बजाय वही हजार रुपया अगर दान दिया होता तो क्यों पश्चात्ताप होता? इस प्रकार परमात्मा को समर्पण करने की दृष्टि से जो त्याग किया जाता है, उस त्याग के लिए पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं रहता।

प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं—दान, भोग और नाश। तुम लोग वस्तु का भोग करते हो और उसका नाश भी होता देखते हो, परन्तु दान मे बहुत कम उपयोग करते हो। आजकल

वस्तुओं का भोग और नाश तो होता दिखाई देता है परन्तु दान में बहुत कम उपयोग होता है। इस ज़माने में बहुत बेकारी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुओं का भोग और नाश करने मे क्या कुछ कमी रक्खी जाती है ? कमी तो वस्तुओ के दान मे ही आई है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह यह कि वस्तुओ का भोग और नाश करने से तो अन्त में पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा परन्तु दान में वस्तुओं का उपयाग करने से पश्चात्ताप का अवसर नहीं आएगा। अतएव प्राप्त सम्पत्ति का भोग और नाश करके ही दुरुपयोग मत करो, उस सम्पत्ति का दान देकर सदुपयोग करना सीखो।

कुछ लोग तो दान करने मे भी पाप मानते हैं। उन लोगों की मान्यता यह है कि हम जिनको दान देते हैं, वह दान लेने वाले अगर कोई पाप कर्म करे तो उनके सब कामो का पाप हमें लगता है। इत्यादि। मारवाड मे ऐसी मान्यता वाले लोग है। इन लोगो के बीच भ्रमण करके मैंने उनकी इस दुर्भावना को दूर करने का प्रयत्न भी किया था और उन्हे समझाया था कि उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। दान में विवेक रखने की आवश्यकता तो है, मगर दान में एकान्त पाप मानना गलत है। लोगों को दान मे पाप मानने की बात बहुत जल्दी पसन्द आ जाती है, क्योंकि ऐसा मानने से गाठ का कुछ जाता नहीं और धर्म भी हो जाता है। ऐसी बात जल्दी पसन्द आना स्वाभाविक है। दान मे विवेक रखना ठीक है मगर एकान्त पाप मानना ठीक नहीं है। बीज नष्ट हो जाने के डर से बोना ही छोड बैठना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। एक किसान खेती करता है और बीज का आरोपण करता है, जब कि दूसरा किसान

खेती करता है किन्तु बीज नष्ट हो जाने के भय से बीज ही नहीं बोता। इन दोनों में से तुम किसे ठीक कहोगे? इसी प्रकार एक आदमी दान में विवेक रखता है मगर दान देता है और दूसरा, दान लेने वाला जो पापकर्म करेगा वह पापकर्म मुझे लगेगा, इस भय से दान ही नहीं देता। इन दोनों मनुष्यों में से वही मनुष्य अच्छा कहलाएगा जो दान देता है। दान ही न देना तो बीज ही न बोने के समान है। अतएव विवेकपूर्वक दान तो अवश्य देना चाहिए। पाप के भय से दान ही न देना अनुचित है।

सुना है, अमेरिका में एक बार दो मित्र जा रहे थे। रास्ते मे एक लँगडा मनुष्य बैठा दिखाई दिया। दोनो मित्रो मे से एक को उस लँगड़े पर दया आई और उसने अपने जेब से कुछ रुपये निकाल कर उसे दे दिये। यह देखकर दूसरे ने कहा—तुमने इस अपग मनुष्य को रुपये तो दिये मगर इससे उसका भिखारीपन दूर नहीं हुआ। रहा तो भिखारी का भिखारी ही। तुम्हारा यह दान करुणा-दान तो अवश्य है पर उसे ऐसा दान देना चाहिए कि उसका भिखारी-पन ही मिट जाय और वास्तव मे ऐसा दान करना ही श्रेष्ठ दान है। इस प्रकार कहकर वह दूसरा मित्र उस अपग को अपने घर ले गया। वहाँ उसने उसे हुनर-उद्योग सिखाया और लकडी तथा रबर के कृत्रिम पैर बनाकर उसके पैर दुरुस्त कर दिये। वह अपग हुनर-उद्योग के द्वारा अपना और दूसरो का भी पोषण करने में समर्थ बन सका। दान तो दोनो मित्रो ने दिया, परन्तु किस मित्र का दान सच्चा और ऊँचा दान है, इस बात पर विचार करो। जिस मित्र ने रुपये का दान दिया उसका दान भी करुणादान था परन्तु दूसरे ने भिखारी-पन दूर करने का जो दान दिया वह उस की अपेक्षा अधिक

चौतीसवाँ बोल ।

उपधिप्रत्याख्यान

तेतीसवे बोल मे संभोग के प्रत्याख्यान के विषय मे विचार किया गया। संभोग का त्याग करने से आलम्बन का त्याग भी करना पड़ता है। आलम्बन का त्याग करना साधारण आदमी के लिए सरल काम नहीं है। शक्तिशाली महात्मा ही आलम्बन का त्याग कर सकते है। जिनमें सभोग का त्याग करने की शक्ति होती है वे सभोग का त्याग कर देते है और साथ ही साथ उपाधि (उपकरण) का भी त्याग कर देते है। इस कारण अब गौतम स्वामी उपधि के त्याग के विषय में भगवान् से प्रश्न करते है—

मूलपाठ

प्रश्न—उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! उपधि का त्याग करने से जीव उपकरण धरने-उठाने की चिन्ता से मुक्त हो जाता है और उपधिरहित जीव निस्पृही (स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन में निश्चिन्त रहने वाला) होकर उपधि के अभाव में शारीरिक या मानसिक क्लेश अनुभव नहीं करता ।

व्याख्यान

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को होने वाले लाभों पर विचार करने से पहले उपधि क्या है, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । उपधि का अर्थ है—उपकरण या साधन । यह उपकरण या साधन दो प्रकार के हैं । एक साधन तो सद्गति में ले जाने वाला होता है और दूसरा अधोगति में ले जाने वाला । उपधि की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'उपधीयते इति उपधिः ।' अर्थात् जिससे उपधि हो वह उपधि कहलाती है । इस प्रकार कोई-कोई उपधि दुर्गति मे ले जाने वाली और कोई सद्गति मे ले जाने वाली होती है । दुर्गति में ले जाने वाली उपधि मे धन-धान्य आदि परिग्रह का समावेश होता है और सद्गति में पहुँचाने वाली उपधि मे उन चीजों का समावेश होता है, जो संयम में स्थिर करने वाली हैं । उपधि तो दोनो ही है परन्तु सर्व प्रथम अशुभ का ही त्याग किया जाता है, शुभ का नहीं । जिन्होंने संयम धारण किया है वह दुर्गति में ले जाने वाली धनधान्य आदि उपधि का तो पहले ही त्याग कर डालते हैं, उन्हें सिर्फ संयम में स्थिर रखने वाली उपधि

का त्याग करना शेष रहता है। शास्त्रकार कहते है—अगर किसी मे शक्ति हो तो संयम मे स्थित करने वाली उपधि का भी त्याग कर देना चाहिए।

कुछ लोग कहते है—परिग्रह हमारे पास भी है। और साधुओ के पास भी हैं। जैसे हमे अन्न वस्त्र चाहिए, उसी प्रकार महाराज को भी अन्न वस्त्र चाहिए। इस प्रकार कहने वाले लोग अपनी और साधु की एक ही गति है, ऐसा कहते जान पड़ते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग कहते हैं—साधु को उपकरण की क्या आवश्यकता है? साधु को तो दिगम्बर रहना चाहिए और जो साधु दिगम्बर रहता हो, वही साधु है। इस प्रकार दो अलग अलग मत प्रचलित हैं। इन दो मतो के कारण ही परस्पर वादविवाद और कलह उत्पन्न हुआ करता है। पर शास्त्रकार कहते है कि इस तरह के वाद-विवाद मे न पड़कर उपधि उपकरण का विवेकपूर्वक त्याग करो। जो भी त्याग करो, विवेकपूर्वक ही करो। ऐसा करने में ही त्याग की शोभा है। मान लो, किसी मनुष्य ने धोती भी पहनी है और पगडी भी पहनी है। अब अगर उसमे त्यागभावना आ जाय तो वह सर्वप्रथम किस वस्तु का त्याग करेगा? पहले धोती त्यागेगा या पगडी त्यागेगा? उसके लिए पहले पगडी का त्याग करना ही उचित है। लेकिन यदि वह आग्रह करे कि मैं तो पहले धोती त्यागूँगा और पगडी पहने रक्खूंगा, तो क्या यह त्याग का आग्रह, विवेकपूर्वक कहलाएगा? अतएव जो कुछ भी त्याग किया जाय वह सब विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जिस वस्तु का त्याग करने की शक्ति नहीं है, उसका भी त्याग करके नवीन कठिनाइयाँ उपस्थित करना उचित नही ह।

पाँच समिति और तीन गुप्ति जैनशास्त्रों का सार है। समिति अर्थात प्रवृत्ति और गुप्ति अर्थात् निवृत्ति। उपदेश तो गुप्ति अर्थात

मन वचन और काय की निवृत्ति के लिए ही है, परन्तु निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति न हो तो धर्म में गति ही कैसे होगी ? इस कारण भगवान् ने पाँच समितियों के द्वारा प्रवृत्ति बतलाई है और मन, वचन, काय द्वारा अशुभ प्रवृत्ति न करने के लिए कहा गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना समिति है। चलते समय ईर्यासमिति का ध्यान रखना आवश्यक है। ईर्यासमिति का ध्यान न रक्खा जाय तो गुप्ति का भंग होता है। अतएव चलने में, बोलने में भिक्षा लेने में, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु को पाँच समिति और तीन गुप्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। समिति और गुप्ति प्रवचन माता कहलाती हैं। वीरपुत्र साधु को अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करके प्रवचनमाता की रक्षा करनी चाहिए।

शरीर टिकाने के लिए जब भिक्षु को भिक्षा लेनी पड़ती है, तब भिक्षा लेने के लिए पात्रों की भी आवश्यकता रहती है। अगर साधु पात्र न रक्खे और गृहस्थों के पात्र में भोजन करे या गृहस्थों के पात्र का उपयोग किया करे तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना है। यह बात दृष्टि में रखकर ही साधुओं को काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की छूट दी गई है। जब पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाना पड़ता है तो पात्र रखने के लिए झोली भी चाहिए ही। और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र भी चाहिए! भगवान् ने कहा है—अगर पात्र रक्खोगे तो तुम अपने सयम की रक्षा कर सकोगे और रोगी या वृद्ध साधुओं की सेवा भी कर सकोगे। अगर तुम स्वय गृहस्थों के घर खाते होगे अथवा गृहस्थों के पात्र में जीमते होगे तो वृद्ध तथा रोगी आदि सतों के लिए भिक्षा किस प्रकार और कहाँ से लाओगे ? कदाचित् यह कहो कि हम गृहस्थों के घर जीमेंगे और वृद्ध तथा रोगी साधुओं की सेवा गृहस्थ करेंगे, तो ऐसा करने में

अयतना होगी और संयम मे बाधा आएगी। अतएव संयम पालन के लिए पात्र भी उपकारी है।

जो भोजन किया जाता है वह शरीर में रसभाग और खल-भाग में परिणत होता है। खलभाग का--जो मलमूत्र रूप होता है-त्याग करना ही पडता है। मलमूत्र का त्याग दश बोलो का ध्यान रखकर करना चाहिए।

साधु-क्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोगों का कहना है कि साधु मल को बिखेरते हैं, परन्तु यह कथन भ्रामक और मिथ्या है। ऐसा करने से तो साधु को प्रायश्चित्त लगता है। मलमूत्र का त्याग करने में साधुओं को विवेक तो रखना ही पडता है, परन्तु मलमूत्र का विसर्जन करते समय साधु ऐसी कोई क्रिया नहीं करते कि उन्हे मल-मूत्र का स्पर्श करना पड़ता है।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि यह तो साधुओ के आचार विचार की बात हुई, परन्तु शास्त्र में गृहस्थों के लिए भी कोई धर्म बताया है या नहीं? और उनके लिए किसी प्रकार का विधि-विधान किया गया है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र मे गृहस्थों का धर्म न बतलाया जाय यह कैसे संभव है? क्योंकि साधुओं का धर्म गृहस्थों के धर्म पर ही आश्रित है। इसीलिए उववाई सूत्र में कहा है—

दुविहे धम्मे पएणत्ते, तंजहा—आगारधम्मे अणगार-धम्मे य।

अर्थात्—धर्म दो प्रकार के हैं-गृहस्थधर्म और साधुधर्म।

साधुधर्म का आधार गृहस्थ का धर्म ही है। श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में कहा है कि जब धर्म का नाश होगा तो सर्वप्रथम साधुधर्म का नाश होगा और फिर गृहस्थधर्म का नाश होगा। साधुधर्म जीवित रहे और गृहस्थधर्म नष्ट हो जाय, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि गृहस्थधर्म, साधुधर्म का आधार है। और यदि गृहस्थ लोग अपने धर्म का सम्यक् प्रकार पालन न करें तो ऐसी दशा मे साधुधर्म का भी सम्यक् प्रकार से पालन नहीं हो सकता। अतएव गृहस्थों को अपने धर्म का यथोचित पालन करना चाहिए। धर्म किसी व्यक्ति को, फिर वह साधु हो या गृहस्थ हो, किसी प्रकार के बंधन में बद्ध नहीं करता। धर्म तो अविवेक को दूर करता है। धर्म का कथन यह है कि जो कुछ करो, विवेकपूर्वक ही करो। गृहस्थों को विवेक समझाने क लिए के लिए ही शास्त्र मे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं। इन बारह व्रतों को ही अगारधर्म कहते हैं। पहले अहिंसाव्रत में श्रावक को हिंसा का त्याग करना पड़ता है। गृहस्थ-श्रावक हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव उसे स्थूल हिंसा का त्याग करने का विधान किया गया है। स्थूल हिंसा किसे कहना चाहिए और सूक्ष्म हिंसा क्या है, इस विषय में शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया गया है। शास्त्रकारों ने जगत के जीवों की सुविधा के लिए स्थूल हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—जो जीव चलते फिरते दिखाई देते हैं, उनका घात करना स्थूल हिंसा है। गृहस्थ श्रावक को ऐसे जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए। जीव तो पृथ्वी, पानी आदि में भी हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते और गृहस्थ श्रावक उन जीवों की हिंसा से बच भी नहीं सकता। अतएव जो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनकी हिंसा श्रावक को नहीं करना चाहिए।

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता है कि अगर हम ऐसी हिंसा से बचते ही रहें और अहिंसक बनकर बैठ रहें तो हमारा संसार-व्यवहार ही न चले ! इसका समाधान यह है कि यह खयाल ही गलत है। एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था। उनका कहना था—'अगर हम अहिंसक ही बन जाएँ तो ऐसी दशा में अनेक मनुष्य मर जाएं। मनुष्यों की रक्षा के लिए हमें हिंसा करनी ही पड़ती है। रोग के कीटाणु, जो रोगी के शरीर में होते है, उनका हमें विनाश करना पड़ता है। अगर कीटाणु नष्ट न किये जाएँ तो रोगी जीवित नहीं रह सकता और कीटाणुओं का नाश करने से हिंसा होती है। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिंसा का पालन करना चाहिए ? डाक्टर का कर्त्तव्य निभाने के लिए हमे दवा से, इन्जेक्शन से या ऑपरेशन से कीटाणुओं का नाश करना ही पडता है।'

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते है—'वास्तव में कीडों को बचाना चाहिए या मनुष्यो को बचाना चाहिए ?'

मैंने उन डाक्टर साहब से कहा—'कीड़े दो प्रकार के होते हैं—आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक। आरोग्यनाशक कीड़ों के कारण ही रोग उत्पन्न होता है। तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्यनाशक कीडो को ही मारते हैं, मगर इसी मान्यता मे भूल है। वास्तव में तुम आरोग्यरक्षक कीडो को सशक्त बनाते हो। ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीड़े अशक्त होकर स्वतः मर जाते हैं। तुम आरोग्यनाशक कीड़ों को मार डालते हो, यह तुम्हारा ख्याल गलत है। तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्यरक्षक कीटाणुओं को सशक्त बनाते हो ? इस दृष्टि से विचार

करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीड़ों को मारना नहीं वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता है। यही दृष्टि लक्ष्य में रक्खोगे तो हिंसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा। उदाहरणार्थ—जब दीपक जलाया जाता है तो अंधकार स्वतः नष्ट हो जाता है। परन्तु यह नहीं कहा जाता कि अंधकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जाता है कि दीपक उजल गया है ! इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुओं को नष्ट करने के बदले कीटाणुओं को सशक्त बनाना कहा जाय और ऐसा ही माना जाय तो हिंसा के समर्थन के बदले अहिंसा का समर्थन होता है।

संसार में कुछ लोग अंधकार का समर्थन करने वाले निकल आएँगे और कुछ प्रकाश का भी समर्थन करने वाले निकलेंगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएँगे और अंधकार का समर्थन करने वाले कृष्णपक्षीय कहलाएँगे। प्रकाश तो शुक्लपक्ष में भी रहता है और कृष्ण पक्ष में भी रहता है, फिर भी एक को शुक्ल पक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष क्यों कहते हैं ? इसका कारण यही है कि एक पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अंधकार का समर्थक है। इसी कारण दोनों पक्षों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया देखा जाय तो पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपद् के दिन अंधकार कम होता है और प्रकाश अधिक होता है, परन्तु वह पक्ष अंधकार का पक्षपाती होता है, इसी कारण उसकी गणना कृष्ण पक्ष में करते हैं। इसी तरह शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन नाम मात्र को ही प्रकाश होता है, फिर भी वह पक्ष प्रकाश का पक्षपाती है, इसी कारण उसकी गणना शुक्लपक्ष में की गई है। संसार में तो शुक्लपक्षीय लोग भी रहेंगे और कृष्णपक्षीय भी रहेंगे। मगर तुम विवेकपूर्वक विचार करो कि इन दोनों में से तुम्हें किस पक्ष में रहना है ?

तुम हिंसा के पक्ष मे रहना चाहते हो या अहिंसा के पक्ष मे रहना चाहते हो ? विवेक के साथ तुम्हे निर्णय करना चाहिए।

शास्त्र में शुभाशुभ भावो की शुक्लता और कृष्णता बतलाकर छह लेश्याओं के विषय में विचार किया गया है। छह लेश्याओ मे तीन लेश्याएँ तो शुभ अर्थात् धर्म की द्योतक है और तीन अशुभ अर्थात् पाप की द्योतक हैं। इन शुभाशुभ लेश्याओं को उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

अलग-अलग प्रकृति वाले छह मनुष्य कुल्हाड़ियाँ लेकर घर से बाहर निकले। रास्ते में उन्होंने आम्रफलों से झुका हुआ आम्रवृक्ष देखा। पके आम देखकर सब ने खाने का विचार किया। मगर वृक्ष बहुत ऊँचा था। प्रश्न उपस्थित हुआ–आम किस तरह खाए जाएँ ?

उन छह मे से एक ने कहा—अपने पास कुल्हाड़ी है। वृक्ष को मूल से ही काट गिराया जाय तो सरलता से आम ले सकेंगे। इस प्रकार पहले मनुष्य ने केवल आमों के लिए सारे वृक्ष को ही काट डालने का विचार किया। शास्त्र कहता है, इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाला है। क्योंकि वह थोड़े से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है। वृक्ष काट डालने से केवल उन्हें ही थोडे से फल मिल जाएँगे, परन्तु वृक्ष अगर कायम रहा तो न जाने कितने लोगों को आम मिलेंगे ! ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ में अंधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतारू हो गया है। वह कृष्णलेश्या वाला है।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा—'भाई ! सारा पेड़ काटने से क्या लाभ ! अगर वृक्ष की शाखाओं को काट लिया जाय तो फल

भी मिल जाएँगे और वृक्ष भी कायम रह सकेगा।' इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोड़े लाभ के लिए विशेष हानि करने की है, फिर भी पहले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी है। अतएव दूसरा मनुष्य नील लेश्या वाला कहलाता है।

तीसरे मनुष्य ने कहा—'भाई! आम तने में तो लगे नहीं हैं। आम तो छोटी छोटी डालियों में लगते हैं, फिर वृक्ष की शाखा काटने से क्या लाभ है? छोटी डालियाँ काट लेना ही अच्छा है, इससे हमें आम भी मिल जाएँगे और वृक्ष भी बचा रहेगा।' इस तीसरे मनुष्य के विचार के अनुसार कार्य होने में भी हानि अधिक और लाभ थोड़ा है, अतएव इसकी लेश्या कापोती होने के कारण पापकारिणी तो है ही, फिर भी पहले और दूसरे मनुष्य की लेश्या की अपेक्षा यह लेश्या अच्छी है। यह तीनों लेश्याएँ पापकारिणी और अप्रशस्त मानी जाती है।

चौथे मनुष्य ने कहा—'भाई! डालियाँ काटने में पत्ते भी कट जाएँगे और वृक्ष छाया देने योग्य नहीं रह जाएगा। हमें तो आमों से मतलब है, अतएव सब आम गिरा लिये जाएँ तो ठीक है।' इस चौथे की भावना पूर्वोक्त तीनों की अपेक्षा प्रशस्त है और इसीलिए उसकी लेश्या तेजोलेश्या कहलाती है। यह तेजोलेश्या, पद्मलेश्या से हीन होने पर भी पहली तीन लेश्याओं से अच्छी है। इसी लेश्या से धर्म का आरम्भ होता है।

पाँचवें मनुष्य ने कहा—'भाई! सभी आम गिराने से भी क्या लाभ है? अगर पके-पके आम तोड़ लिए जाएँ तो ठीक है। कच्चे आम जब पकेंगे तो दूसरों के काम आएँगे।' इसकी लेश्या

पद्मलेश्या है। यद्यपि पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या से नीची है फिर भी पूर्वोक्त चारों की अपेक्षा प्रशस्त है। यह लेश्या धर्मरूप है।

छठा शुक्ल लेश्या वाला मनुष्य है। इसने कहा—भाइयो! तुम पके आम खाना चाहते हो तो फिर इतना अनर्थ क्यों करते हो? वृक्ष उदार होता है। वह पके फलों को अपने पास संग्रह करके नहीं रखता। लोगों के हित के लिए नीचे गिरा देता है। अगर अभी हवा चलेगी तो पके आम स्वयं नीचे गिर जाएँगे। इसलिए थोड़ी देर राह देखो।' इस मनुष्य की भावना अत्यन्त उच्च है। इसे शुक्ल लेश्या कहते है। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या कही गई है। यद्यपि आम तो सभी को खाने हैं परन्तु आम प्राप्त करने के प्रयत्नो मे अन्तर है!

इस प्रकार छह लेश्याओं में तीन पापकारिणी और तीन धर्मकारिणी है। इसका कारण यही है कि तीन लेश्याएँ पाप का पक्ष लेने वाली हैं और तीन धर्म का पक्ष लेने वाली हैं। जिस व्यक्ति मे धर्म होगा और जो धर्म का पक्ष लेता होगा, वह तो हिंसा से बचने का ही प्रयत्न करेगा।

कहने का आशय यह है कि संसार मे हिंसा और अहिंसा दोनो के स्वतन्त्र पक्ष हैं। परन्तु तुम्हें तो अहिंसा का पक्ष लेना चाहिए और हिंसा से बचना चाहिए। तुम्हारे लिए स्थूल हिंसा त्याज्य है। स्थूल हिंसा के भी दो भेद किये गये हैं—एक संकल्पी हिंसा और दूसरी आरंभी हिंसा है। आरम्भ की हिंसा का गृहस्थ त्याग नहीं कर सकता, अतः उसकी गृहस्थ के लिए छूट है। खेती करने में अगर कोई कीड़ा आदि मर जाय तो उससे तुम्हें कोई पापी नहीं कह सकता, अगर जान-बूझकर तुम कीड़ों को मारोगे तो अवश्य पापी

कहलाओगे, क्योंकि वह हिंसा संकल्प की हिंसा है। संकल्पी हिंसा भी दो प्रकार की है--अपराधी की हिंसा और निरपराध की हिंसा। इनमें से निरपराध जीव को मारना तुम्हारे लिए वर्ज्य है। श्रावकों को अपराधी को मारने का त्याग नहीं होता। किन्तु निरपराध जीव को मारने का त्याग श्रावक को करना ही चाहिए। निरपराधी जीव को संकल्प करके मारने से व्यवहार में भी तुम पापी कहलाओगे। इस प्रकार तुम्हारे लिए चलते-फिरते जीव को (जो व्यवहार में भी जीव माने जाते हैं) संकल्पपूर्वक मारने का त्याग करना आवश्यक है। स्थूल हिंसा से बचना श्रावक का पहला अहिंसाव्रत है।

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नहीं होता। लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है। परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पड़ता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगों के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दंड देने वाले को पापी ही कहा है। यह बात स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है —

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती जा रही थी, और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे उस समय नौ लिच्छवी और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण संघ की स्थापना की थी। इस गणसंघ का उद्देश्य सबलों द्वारा पीड़ित निर्बलों की रक्षा करना था। गणसंघ के अठारह गणराजाओं का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा

पद्मलेश्या है। यद्यपि पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या से नीची है फिर भी पूर्वोक्त चारों की अपेक्षा प्रशस्त है। यह लेश्या धर्मरूप है।

छठा शुक्ल लेश्या वाला मनुष्य है। इसने कहा—भाइयो! तुम पके आम खाना चाहते हो तो फिर इतना अनर्थ क्यों करते हो? वृक्ष उदार होता है। वह पके फलों को अपने पास संग्रह करके नहीं रखता। लोगों के हित के लिए नीचे गिरा देता है। अगर अभी हवा चलेगी तो पके आम स्वयं नीचे गिर जाएँगे। इसलिए थोड़ी देर राह देखो।' इस मनुष्य की भावना अत्यन्त उच्च है। इसे शुक्ल लेश्या कहते है। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या कही गई है। यद्यपि आम तो सभी को खाने हैं परन्तु आम प्राप्त करने के प्रयत्नो मे अन्तर है!

इस प्रकार छह लेश्याओ में तीन पापकारिणी और तीन धर्मकारिणी है। इसका कारण यही है कि तीन लेश्याएँ पाप का पक्ष लेने वाली हैं और तीन धर्म का पक्ष लेने वाली हैं। जिस व्यक्ति में धर्म होगा और जो धर्म का पक्ष लेता होगा, वह तो हिंसा से बचने का ही प्रयत्न करेगा।

कहने का आशय यह है कि संसार मे हिंसा और अहिंसा दोनो के स्वतन्त्र पक्ष हैं। परन्तु तुम्हें तो अहिंसा का पक्ष लेना चाहिए और हिंसा से बचना चाहिए। तुम्हारे लिए स्थूल हिंसा त्याज्य है। स्थूल हिंसा के भी दो भेद किये गये हैं—एक संकल्पी हिंसा और दूसरी आरंभी हिंसा है। आरम्भ की हिंसा का गृहस्थ त्याग नहीं कर सकता, अतः उसकी गृहस्थ के लिए छूट है। खेती करने में अगर कोई कीड़ा आदि मर जाय तो उससे तुम्हें कोई पापी नहीं कह सकता, अगर जान-बूझकर तुम कीड़ों को मारोगे तो अवश्य पापी

कहलाओगे, क्योंकि वह हिंसा संकल्प की हिंसा है। संकल्पी हिंसा भी दो प्रकार की है--अपराधी की हिंसा और निरपराध की हिंसा। इनमें से निरपराध जीव को मारना तुम्हारे लिए वर्ज्य है। श्रावकों को अपराधी को मारने का त्याग नहीं होता। किन्तु निरपराध जीव को मारने का त्याग श्रावक को करना ही चाहिए। निरपराधी जीव को संकल्प करके मारने से व्यवहार मे भी तुम पापी कहलाओगे। इस प्रकार तुम्हारे लिए चलते-फिरते जीव को (जो व्यवहार में भी जीव माने जाते हैं) संकल्पपूर्वक मारने का त्याग करना आवश्यक है। स्थूल हिंसा से बचना श्रावक का पहला अहिंसाव्रत है।

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नहीं होता। लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है। परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पड़ता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगों के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दंड देने वाले को पापी ही कहा है। यह बात स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है.—

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती जा रही थी, और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवी और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण संघ की स्थापना की थी। इस गणसंघ का उद्देश्य सबलों द्वारा पीडित निर्बलों की रक्षा करना था। गणसंघ के अठारह गणराजाओं का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा

चेटक या चेड़ा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था। आज तुम लोग ढीली धोती पहनने वाले बनिया बन रहे हो, परन्तु जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म है। तुम्हें धर्म ने बनिया नहीं बनाया है। तुम महाजन बने थे। व्यापार में लग जाने के कारण आज तुममें गुलामी का भाव आ गया है और तुम बनिया बन गये हो! स्वार्थ की अधिकता के कारण तुम्हारे हृदय में कायरता और गुलामी घुस गई है। वास्तव में तुम वणिक नहीं, महाजन हो।

सशक्त लोगों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए ही गणसंघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी में कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह भाई थे, जिनमें सब से छोटे भाई का नाम बहिलकुमार था। बहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। बहिलकुमार को राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही संतोष मान लिया था।

बहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता था। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—राज्य के रत्नों का उपभोग तो बहिलकुमार ही करते हैं। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है। लोगों का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानों तक पहुँचा। रानी ने विचार किया—'किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य में मँगाना चाहिए।' यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा—'नाथ! राजा आप हैं मगर राज्य के रत्नों का—हार और हाथी का—उपभोग बहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है!'

कोणिक ने कहा—स्त्रियों की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। बहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी है, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हूँ। इसके अतिरिक्त बहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा—मेरी यह युक्ति काम नहीं आई। अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए। यह सोचकर उसने कोणिक से कहा—तुम्हें अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था। तुम्हें इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है। मगर एक बार अपने विश्वासपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नहीं?

कोणिक को यह बात पसन्द आ गई। उसने बहिलकुमार के पास सदेशा भिजवा दिया—इतने दिनों तक हार और हाथी का उपभोग तुमने किया है। अब कुछ दिनों तक हमें उपभोग करने दो।

यह सदेश पाकर बहिलकुमार ने सोचा—अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पड़ी है। वह प्रत्येक उपाय से हार-हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। मुझे राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला। फिर भी मैंने हार-हाथी पाकर ही संतोष मान लिया। अब यह भी जाने की तैयारी में है।

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुँचा। बहिलकुमार ने राजा चेटक को

सारी घटना कह सुनाई। चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा—'तुम्हारी बात ठीक है।' राजा चेटक ने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया।

बहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई-भाई कहकर ऊँचा चढ़ाते थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है ! उसने हार और हाथी नहीं भेजा। इतना ही नहीं, कदाचित् तुम जबर्दस्ती हार हाथी लूट लोगे, इस भय से वह अपने नाना की शरण में भाग गया है। वहाँ जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नहीं भेजी। अब मैं देखती हूँ कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बातें कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भड़काया। पद्मा की यह बातें सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा—मैं चेड़ा राजा के पास अभी दूत भेजता हूँ। अगर चेड़ा राजा बुद्धिमान् होगा तो बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत राजा चेटक के पास पहुँचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर में कहला दिया—मेरे लिए तो कोणिक और बहिलकुमार दोनों सरीखे हैं। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयों को राज्य में हिस्सा दिया है उसी प्रकार बहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाय अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाय।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय-अन्याय कौन देखता है! जिसके हाथ में सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उंगली उठावें उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा—हम राजा हैं। रत्नों पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हे हमारे बीच में पडने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम बहिलकुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई-भाई आपस में निबट लेंगे।

दूत ने चेटक के पास पहुँचकर कोणिक का संदेश सुनाया।

कोणिक ने अपने संदेश में राज्य का हिस्सा देने के विषय मे कुछ भी नहीं कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक, बहिलकुमार को राज्य में हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहलाया। ऐसी स्थिति में बहिलकुमार को कैसे भेज सकता हूँ? सबलों से निर्बलों की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पा नगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो बहिलकुमार को हार-हाथी के साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गणसंघ के सब सदस्यों को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय में उनकी सम्मति पूछी। आगे-पीछे

का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि—क्षत्रिय होने के नाते सबलों द्वारा सताये जाने वाले निर्बलों की रक्षा करना हमारा धर्म है। अपने गणसंघ का उद्देश्य भी निर्बलों की रक्षा करना है। वहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नहीं है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगों का कर्त्तव्य है।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो ? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो ? स्वार्थ त्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओं जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाय तो तुम क्या करोगे ? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि—कहाँ का हार और कहाँ का हाथी ! हमारा उससे क्या लेन देन है ? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे ? वास्तव में इस प्रकार का विचार करना कायरता का काम है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते। वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। आज तो लोगों में कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगों का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसों भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह सकते थे कि

[illegible] चाहिए, परन्तु उन्होंने भी [illegible] दिया। इतिहासवेत्ता कहते हैं कि [illegible] गणतन्त्र राज्य [illegible]। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द हैं और गरीबों पर अन्याय करते हैं

गणराजाओं की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया। वास्तव में धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता है। आज के मनुष्य तो कार्य करने के समय नौकरों को आगे कर देते हैं परन्तु चेटक राजा स्वयं अगुवा बना और उसने अपनी युद्ध-कला का परिचय दिया। राजा चेटक ने अपनी अचूक बाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयों का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयों के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्रों की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आया। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा—तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नहीं है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला—कुछ भी हो, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया—मैं अधिक तो कुछ नहीं कर सकूंगा, सिर्फ चेटक राजा के बाण से तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं उनका बाण-वेध चुका दूँगा।

चमरेन्द्र बोला—तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेना-वैक्रिय करूँगा और रथमूसल का संग्राम वैक्रिय करके तुम्हें विजय दिलाऊँगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ। अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामने युद्ध करने आ पहुँचा। भगवान् ने कहा—उस संग्राम मे एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गये।

भगवतीसूत्र मे भी एक ऐसा उदाहरण आया है। वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था। यह श्रावक बेले-बेले पारणा करता था। वह चेटक राजा का सामन्त था। एक बार उसे युद्ध में जाने के लिए कहा गया। उस समय उसके दूसरा उपवास था। क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध मे जाना उचित था? क्या वह नहीं कह सकता था कि मै उपवासी हूँ। युद्ध में कैसे जा सकता हूँ? परन्तु उसने ऐसा कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी ही चाहिए। स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है। अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नहीं है?

आज भारतवर्ष में बड़ी हरामखोरी दिखाई देती है। जो लोग भारत का अन्न खाते हैं वही भारत की नाक कटाने वाले कामों में शामिल होते है। जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते हैं, उन्हीं को वे अपनाते हैं। भारत की सभ्यता को-रहन-सहन आदि को भुला देते हैं। यह नमकहरामी नहीं तो क्या है? वायसराय, गवर्नर आदि आते है और भारत का शासन करते हैं, पर उन्हे भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाय तो क्या वे कहना मानेंगे? वे यही उत्तर देंगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं, द्रोह करने नहीं। अतएव हम अपना वेष कैसे छोड़ सकते हैं? इस प्रकार अंग्रेज लोग भारत मे रहते हुए भी अंग्रेजी

पोशाक पहनकर फूले नहीं समाते। यह कृतघ्नता के सिवाय और क्या है ? पोशाक और रहन-सहन से मातृभूमि की पहचान होती है। मगर आज भारत का रहन-सहन बदल गया है। सभ्यता बदल देने मे मातृभूमि के प्रति द्रोह होता है। देशहित की दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति अपनाने योग्य है।

वरुण नागनतुआ वीर होने के कारण ही, उपवासी होता हुआ भी, देशरक्षा के लिए युद्ध में शामिल हो गया। मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज और धर्म का पतन हो रहा है।

कहने का आशय यह है कि चेटक राजा और वरुण नागनतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी संग्राम लडा। फिर भी उनका स्थूल अहिंसाव्रत खण्डित न हुआ। इसका कारण यही है कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे। ऐसी अवस्था में उनका स्थूल अहिंसाव्रत कैसे भंग हो सकता था ? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिंसा मे नहीं होता। राज्य भी ऐसे कामो को अपराध नहीं गिनता। लोग अपराधी को दंड देने के समय दूर-दूर भागते हैं और निरपराध के गले पर कलम कुठार चलाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह उनकी कायरता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि गृहस्थधर्म मर्यादायुक्त है। गृहस्थधर्म का पालन करने से आत्मा का विकास भी होता है और सांसारिक काम भी नहीं रुकता। जैनधर्म वीर का धर्म है। इस वीर धर्म में कायरता के लिए लेश मात्र भी गुंजाइश नहीं। जिसमें वीरता होगी वही जैनधर्म का भलीभाँति पालन कर सकेगा। आज कायरता को पोषने का जो अपवाद जैनधर्म पर लगाया जाता है, उसका प्रधान

कारण जैन कहलाने वालों का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है। अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाय तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए बिना नहीं रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है।

तुम श्रावकधर्म का गम्भीर विचार करो और उसका भली भाँति पालन करने का प्रयत्न करो। अगर तुम सभी वस्तुओं के त्यागी होते या साधु होते तो तुम्हें इस विषय में इतना अधिक कहने की आवश्यकता न होती। तुम गृहस्थ श्रावक हो और इसीलिए तुम्हें समष्टि का ध्यान रखकर नियम बनाने चाहिए। व्यक्तिगत प्रश्नों को एक ओर रखकर समष्टि के हित का श्रावकों को खास ध्यान रखना चाहिए। अगर तुम अपने गृहस्थधर्म का बराबर पालन करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब मूल विषय पर आना चाहिए।

उपधि की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जिसके प्रताप से आत्मा दुर्गति को प्राप्त हो वह उपधि है। श्रीस्थानागसूत्र में उपधि के तीन भेद कहे गये हैं—(१) कर्मउपधि (२) शरीरउपधि और (३) बाह्य भंडोपकरण उपधि।

कर्म भी उपधि है और इसी उपधि के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुडा हुआ है। कर्म उपधि के कारण ही आत्मा को सुख-दुख का अनुभव करना पड़ता है। परन्तु सुख-दुःख बाहर से आये हैं, इस प्रकार आत्मा का मानना भूल है। कर्म-उपधि के कारण ही आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है। आत्मा जब

शरीरधारी बना है तो उसे अनेक बाह्य वस्तुओ की भी आवश्यकता रहती है। आत्मा इन बाह्य वस्तुओ को अपनी मानकर भयानक भूल करता है। मकान् लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि से बनता है। परन्तु आत्मा उसे अपना समझ बैठता है। जबतक मकान, लकडी पत्थर आदि से नही बना था तब तक आत्मा को उसके प्रति ममत्व भाव नहीं था। परन्तु घर जब तैयार हो गया तब आत्मा ममता के कारण उसे अपना मानने लगा। इस प्रकार कर्मउपधि और शरीरउपधि के कारण ही बाह्य उपकरणो की आवश्यकता उपस्थित होती है और फिर उन बाह्य उपकरणो के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है। शास्त्र के कथनानुसार यह उपधि ही उपाधि है। यह उपधि आत्मा को संसार-जाल मे फँसाने वाली है। अतएव उपधि के त्याग का यथाशक्ति प्रयत्न करो और बाह्य पदार्थों के प्रति जो ममत्वभाव बँध गया है उसे शक्य प्रयत्न द्वारा दूर करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि उपधि का त्याग किस प्रकार किया जाय और पदार्थों सम्बन्धी ममता का निवारण किस प्रकार किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म की आराधना करने से उपधि का त्याग भी हो सकता है और ममत्व भी दूर हो सकता है। धर्म दो प्रकार का है—अगारधर्म अर्थात् गृहस्थधर्म और अनगारधर्म अर्थात साधुधर्म। दोनों प्रकार के धर्म की श्रद्धा तो समान ही है, केवल स्पर्शना-आराधना में अन्तर है। अतएव अगर आज तुम शास्त्र के इस कथन को जीवन मे सक्रिय रूप नहीं दे सकते तो इतना तो मानो कि उपाधि, उपाधि ही है और आत्मा तथा इतर पदार्थ भिन्न भिन्न हैं। सासारिक पदार्थों में जितनी कम ममता होगी उतना ही अधिक सुख मिलेगा और जितनी ज्यादा ममता होगी

उतना ही अधिक दुःख होगा। जब तक तुम इन पदार्थों की ममता मे फँसे रहोगे तब तक आत्मा की उन्नति नहीं हो सकेगी। आज का विज्ञान भी यही कहता है कि जो मनुष्य दूसरों के फंदे में फँसा रहता है वह अपना विकास नही कर सकता। ममत्व का त्याग करने वाला ही अपना विकास कर सकता है। कमल जल मे लिप्त होकर रहे तो उसका विकास नहीं हो सकता। वह जल से अलिप्त होकर जब बाहर निकलता है तभी उसका विकास होता है। यही बात आत्मा के विकास के लिए लागू होती है। आत्मा भी जब तक बाह्य पदार्थों मे लिप्त रहता है, तब तक वह अपना विकास नहीं साध सकता। जब वह पदार्थों के ममत्वलेप से रहित हो जाता है तभी अपना विकास साध सकता है। इसीलिए शास्त्रकारो ने उपाधि के त्याग का उपदेश दिया है। भगवान् ने कहा है—उपधि का त्याग करने से आत्मा कर्मरहित बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है। इस प्रकार एक तरह की उपधि का त्याग करने से प्राप्त होने वाला फल कहा गया है।

एक उपधि ऐसी भी है जिससे संयम मार्ग की पुष्टि होती है। प्रश्न किया जा सकता है कि एक ओर तो उपधि का त्याग करने के लिए कहा जाता है और दूसरी ओर उपधि से संयम की पुष्टि होना बतलाया जाता है। इसका क्या कारण है ? इसका समाधान यह है कि एक उपधि बंधनरूप होने से त्याज्य है और दूसरी संयम मे सहायक होने के कारण, विवश होकर रखनी पड़ती है। इसी कारण वह ग्राह्य है। यह बात एक साधारण उदाहरण द्वारा विशेष स्पष्ट की जाती है।

कल्पना करो, किसी मनुष्य के पैर में फोड़ा हो गया है। डाक्टर ने मलहम लगा कर पट्टी बाँधने के लिए कहा। डाक्टर के

कथनानुसार उसने मलहम लगाया और पट्टी बाँध ली। अब यहाँ विचारणीय यह है कि उसने कपडे की पट्टी ममता के कारण बाँधी है या दुःख दूर करने के लिए बाँधी है? आखिर वह पट्टी को छोड ही देने वाला है। मगर जब तक उसके पैर में फोडा है, तब तक उसे पट्टी बाँधनी पड़ेगी। पैर में फोड़ा न होता तो वह पट्टी क्यों बाँधता? पैर में पट्टी बाँधने की इच्छा तो उसकी है नहीं, फिर भी फोड़े की पीडा जब तक बनी है तब तक विवश होकर उसे पट्टी बाँधनी पड़ती है।

यही बात साधुओं की उपधि के विषय में समझना चाहिए। साधु संयम का पालन करने के लिए ही उपधि रखते हैं। अगर रखकर अर्थात् वस्त्र पात्र आदि सयम के साधन रखकर साधु अभिमान करे तो वह उसी प्रकार अनुचित है, जैसे फोड़ा न होने पर भी पट्टी बाँधना अनुचित है। परन्तु जैसे फोडा होने पर पट्टी बाँधना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार निरभिमान होकर और अपनी अशक्ति को स्वीकार करके उपधि रखना साधुओं के लिए अनुचित नहीं है। शहरों में कितने ही भिखारी भीख मांगने के लिए पैर पर कपडा बाँध कर ढोंग करते हैं ऐसा ढोंग करना दूसरी बात है। ऐसा ढोंग करके उपधि रखने वाले की सभी ने निन्दा की है। परन्तु फोड़ा होने पर जैसे पट्टी बाँधना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार सयम का पोषण करने वाली उपधि को, जब तक कर्मों का नाश न हो जाय तब तक या उपधि त्याग करने की शक्ति आने तक, रखना अनुचित नहीं है। हाँ, उपधि रखकर अभिमान करना या आनन्द मानना उसी प्रकार मूर्खता है, जिस प्रकार फोड़ा न होने पर भी पैर में पट्टी बाँधना मूर्खता है। भगवान् कहते हैं, जिस वस्तु की जितनी अनिवार्य आवश्यकता है उतनी ही उपाधि रखनी चाहिए, परन्तु जिसकी आव-

श्यकता नहीं है और जिसका त्याग करने की शक्ति है, उस वस्तु को अपनाये रखना भी मूर्खता है। फिर भी जब तक उपधि रखनी पड रही है तब तक किसी प्रकार का अभिमान न करना चाहिए। ऐसा न हो कि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अन्य वस्तुएँ रक्खे और फिर उन पर ममत्व एवं अभिमान करे! फोड़े पर जो पट्टी बाँधी जाती है, वह आघात आदि से बचने के लिए ही है, सुन्दरता बढाने के लिए नहीं। इसी प्रकार साधु जो वस्त्र रखते हैं सो लज्जा की रक्षा के लिए ही हैं तथा शरीर को शीत और ताप के आघात से बचाने के लिए हैं, जिन्हे सहन करने की शक्ति साधु में अभी तक नहीं आई है। अतएव साधुओं को वस्त्र आदि रखने में शृङ्गार की भावना से बचना ही चाहिए। शृङ्गार की भावना होने पर वस्त्र आदि उपाधि सयम मे बाधक सिद्ध होती है।

शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग कर देना उचित नहीं ऐसा करने से अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना रहती है जैसे फोड़ा मिटने से पहले ही पट्टी उतार देने से फोड़े के बढ जाने का, पक जाने का या उसमें कीड़े पड जाने का भय रहता है, उसी प्रकार शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग करने से अनेक अनर्थ होने की संभावना रहती है। अतएव उपधि का त्याग करने में विवेक की आवश्यकता है। अगर शक्ति हो तब तो उपधि का त्याग करना ही चाहिए। अगर शक्ति न हो तो संयम के निर्वाह के लिए उपधि रखना कुछ बुरा नहीं है। हाँ, उपधि के कारण अभिमान करना तो बुरा ही है। शास्त्र कहता है कि साधुओं को तो ऐसी ऊँची भावना भानी चाहिए कि वह शुभ अवसर कब मिलेगा जब मैं सब प्रकार की उपधि का त्याग कर जिनकल्पी बनकर विचरूँगा। जब साधुओं को ऐसी उच्च भावना भाने के लिए कहा गया है तो फिर उपधि रखने

के कारण साधुओं को अभिमान क्यों करना चाहिए? उपधि रखकर अभिमान करने से संयम का पोषण करने वाली उपधि भी दुर्गति के मार्ग पर ले जाने वाली बन जाती है।

उपधि के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—उपधि का त्याग करने वाला भय आदि क्लेश से रहित हो जाता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता। उपधि का त्याग करने से जीवात्मा किस प्रकार निर्भय बनता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है:—

मान लो, एक आदमी सोने का हार पहन कर जंगल में गया है और दूसरे आदमी ने सोने का कुछ भी गहना नहीं पहना। अब जंगल में अगर चोर मिल जाय तो किसे भय लगेगा? अगर सोने का हार पहनने वाले के हृदय में हार के प्रति ममत्व न होगा और निर्भय होकर वह विचार करेगा कि सोना क्या चीज है! चोर ले जाय तो भले ही ले जाय, तो उसे भय होने का कोई कारण नहीं। अगर हार के प्रति उसे ममता होगी तो चोर का भय लगे विना नहीं रहेगा। सोने के प्रति ममत्व होने के कारण कभी-कभी सोने के साथ जान जाने का भी भय हो जाता है।

जिस प्रकार सोने के प्रति ममता न होने के कारण मनुष्य निर्भय बन जाता है, उसी प्रकार उपधि का त्याग करने से जीवात्मा क्लेशरहित हो जाता है। बाह्य उपधि का त्याग करने के बाद कर्म की और शरीर की जो उपधि शेष रह जाती है, उसके लिए भगवान् ने कहा—बाह्य उपधि की भाँति कर्म और शरीर की उपधि का भी त्याग करना चाहिए। उपधि का त्याग करने से ज्ञान, ध्यान तथा

स्वाध्याय भी भलीभाँति हो सकता है। जब तक उपधि होती है तब तक उपकरणो की सार-सँभाल भी रखनी पड़ती है और उनके उठाने धरने की भी चिन्ता करनी पड़ती है। इसी प्रकार जब तक शरीर की उपधि बनी है तब तक भोजन-पानी लेने के लिए जाने में भी समय का भोग देना ही पडता है। अतएव उपधि का जितना त्याग हो सके उतना ही अच्छा है। लेकिन अपनी शक्ति देखकर ही उपधि का त्याग करना उचित है। उपधि के त्याग की शक्ति न हो तो उपधि के कारण अभिमान नही करना चाहिए वरन् ऐसी उच्च भावना भानी चाहिए कि मै इस उपधि का त्याग करने के लिए कब समर्थ हो सकूँगा !

उपधि दो प्रकार की होती है—औघिक उपधि और औपग्रहिक उपधि। जिसके विना काम चल ही नहीं सकता अर्थात् जिस वस्तु की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, वह औघिक उपधि है और जो वस्तु किसी विशेष कारण से लेनी पड़ती है और कारण मिटने के बाद त्याग दी जाती है, वह औपग्रहिक उपधि कहलाती है। यह बात गृहस्थों की उपधि के लिए भी लागू पड़ती है और साधुओं की उपधि के लिए भी। साधु जघन्य बारह, मध्यम चौदह और उत्कृष्ट पच्चीस उपधि-उपकरण रख सकता है। इससे अधिक नही रख सकता। यहाँ निर्ग्रन्थधर्म का ही वर्णन किया जा रहा है अतएव यह मर्यादा निर्ग्रन्थ साधु के लिए बतलाई गई है। यहाँ गृहस्थधर्म का वर्णन नही किया गया है परन्तु इस कथन के आधार पर गृहस्थो को भी विचार करना चाहिए और जितनी उपधि कम हो सके उतनी का त्याग करना चाहिए।

तुम श्रावक लोग जो सामायिक करते हो सो उपधि के त्याग का अभ्यास करने के लिए ही है। अगर आज तुम उपधि का त्याग

करने में समर्थ नहीं हो तो उपधिरूप उपाधि मे रहते हुए भी अभिमान मत करो। बल्कि उपधि के प्रति ममत्व कम करके परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडो। ऐसा करने से एक दिन उपधि का त्याग करने में सामर्थ्यवान् हो सकोगे। यह दुःख की बात है कि तुम लोग ससार संबन्धी कार्यों में बहुत समय व्यतीत कर देते हो, परन्तु परमात्मा को पसन्द आने योग्य कार्यों में समय नहीं लगाते। अगर तुम चाहो तो व्यावहारिक कार्यों के साथ ही साथ परमात्मा का नाम स्मरण करके तथा परमात्मा को पसन्द आने वाले सत्कार्य करके आत्मकल्याण कर सकते हो। ऐसा होने पर भी आत्मकल्याण न करना तुम्हारी कितनी बड़ी भूल है? पनिहारी पानी भरते समय अपनी सखियों से बातें भी करती जाती है और घडा गिर न जाए, इस बात का ध्यान भी रखती है। जैसे पनिहारी का चित्त घड़े की ओर बराबर लगा रहता है, उसी प्रकार दूसरे काम करते हुए भी तुम अपने चित्त को परमात्मा में पिरो दो तो कितना अच्छा हो? परमात्मा में चित्त एकाग्र करने से आत्मा का हित भी होता है और चित्त स्वच्छ भी रहता है। मन ही बध और मोक्ष का कारण है, अतएव मन जितना पवित्र रहेगा, उतना ही कल्याण होगा। मन को स्वच्छ या पवित्र रखने का सब से अच्छा साधन परमात्मा का नाम-स्मरण करना है। तुम्हारे शरीर को राजा कदाचित् बधन में डाल सकता है परन्तु मन को राजा तो क्या, कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी बधन में नहीं बाँध सकता। मन तो स्वतन्त्र ही है। अतएव जेल में भी अगर मन से परमात्मा का स्मरण किया जाय तो जेल भी कल्याण का धाम बन सकता है!

श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में ही हुआ था। वसुदेव और देवकी जब कारागार में बन्द थे तब कृष्ण का जन्म हुआ। फिर

भी वे क्या जेल में दुःख मानते थे ? अगर उन्होंने कारागार को कष्टागार माना होता तो क्या वे श्रीकृष्ण का आनन्द लूट सकते थे ?

एक पुस्तक में मैंने पढ़ा है कि देवकी जैसी सहनशील स्त्री दूसरी नहीं हुई। देवकी में स्त्री उचित अन्यान्य सद्गुण तो थे ही, परन्तु पति के वचन की रक्षा के लिए अपनी संतान को सौंप देना और फिर समता रखना उसका बड़ा भारी गुण था। संतान सभी को प्रिय होती है। पशु पक्षी भी अपनी संतान पर प्रेम रखते हैं तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है ? विशेषतः स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा भी संतान के प्रति अधिक स्नेह पाया जाता है। परन्तु देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा के लिए ही अपनी प्राणप्रिय संतानों को मार डालने के लिए सौंप दिया ! देवकी जब पुत्र को जन्म देती तो वसुदेव उससे कहते—मैं अत्यन्त पापी हूँ। मैंने जन्म होते ही संतान सौंप देने का वचन दे दिया है। मगर तुम तो स्वयं स्वतन्त्र हो, जो उचित समझो वह कर सकती हो।' इस प्रकार वसुदेव ऐसे अवसर पर कॉंप उठते थे। देवकी के ऊपर ऐसे मौके पर दो उत्तरदायित्व आ पड़ते थे। एक तो पतिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिए पति के वचन का पालन करना और दूसरे उस संतान की रक्षा करना जिसे उसने अभी जन्म दिया है। यह दोनों उत्तरदायित्व परस्पर विरोधी थे और दोनों में से किसी एक का ही निर्वाह हो सकता था। देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा को ही अधिक महत्व दिया। देवकी मन में यह विचार करती—मेरे पति काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर कोई अनुचित काम करते होते तो मैं उस काम का विरोध करती और पति को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती। परन्तु मेरे पति तो धर्म का पालन कर रहे हैं और धर्म की रक्षा के लिए अपनी संतान का भी उत्सर्ग कर रहे हैं। ऐसी

स्थिति मे उनके कार्य को मैं कैसे अनुचित कहूँ ? मै उनके कार्य मे कैसे बाधा डालूँ ? इस प्रकार विचार करके देवकी बालक का जन्म होते ही वसुदेव को सौंप देती और कहती—यह बालक तो तुम्हारा ही है। मैं तो इसे पालन करने वाली दासी हूँ। इसलिए तुम्हे जो उचित प्रतीत हो वही करो। वसुदेव भी क्षत्रिय और वीर पुरुष थे। वह भी अपने वचन का पालन करने के लिए दृढप्रतिज्ञ थे।

आज तुम लोगो ने कायरता के कपडे पहन लिए है और इसी कारण तुम धार्मिक कार्यों मे भी कायरता दिखलाते हो और जो वचन देते हो उसका बराबर पालन नही करते। मगर दिये हुए वचन का प्राणों का उत्सर्ग करके भी अवश्य पालन करना चाहिए। कहा भी है.—

सत मत छोड़ो शूरमा, सत छोड़े पत जाय।
सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय॥

दृढप्रतिज्ञ मनुष्य कदापि वचनभग नही करता। वचन भग करने से प्रतीति-विश्वास कम हो जाता है। अतएव वचन का पालन करके प्रत्येक का विश्वास सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विवाह के समय तुमने अपनी पत्नी को और तुम्हारी पत्नी ने तुमको क्या वचन दिया था ? तुमने आपस में कैसी प्रतिज्ञा ली थी ? इस बात का जरा विचार करो। पत्नी ने उस समय पतिव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा ली थी और पति ने पत्नीव्रत के पालन की। तुम विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञा तो लेते हो पर उसका बराबर पालन करते हो ? पत्नीव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा लेने वाला पति अगर परस्त्री का सेवन करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा

से भ्रष्ट होता है या नहीं ? ज्ञाती के सामने ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पति या पत्नी भंग करे तो कितना अनुचित है ? अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है।

वसुदेव अपनी प्रतिज्ञा के पालन में दृढ़ रहे। वे यह विचारते थे कि सिर पर कितना ही संकट क्यों न आ पड़े, धर्म पालन में तो दृढ़ ही रहना चाहिए। धर्मपालन में दृढ़ रहने वाले लोगों की सेवा करने के लिए देव भी लालायित रहते है। कहा भी है—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात धर्म मे दृढ रहने वाले धर्मात्माओं को देव भी नमस्कार करते हैं। इस कथन के अनुसार देवकी की सन्तान मारी नही गई। हरिणगमेषी देव ने उसकी संतान नाग गाथापति के घर पहुँचा दी और नाग गाथापति की मृत संतान लाकर वसुदेव को सौंप दी। इस प्रकार सत्य पर दृढ़ रहने के कारण वसुदेव को किसी प्रकार की हानि नहीं हुई।

भाइयो! तुम भी सत्य और धर्म पर श्रद्धा रक्खो। सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखने वालों की रक्षा हुई है, होती है और होगी। अगर तुम्हारे अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तो यहाँ आना भी निरर्थक है। अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा रक्खो। तुम और हम निर्ग्रन्थप्रवचन से बँधे हुए हैं। आपके और मेरे बीच सम्बन्ध जोडने वाला निर्ग्रन्थप्रवचन ही है। अतएव उस, पर श्रद्धा रखकर सत्य का पालन करने वाले और देवकी जैसी पतिव्रता के घर ही श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों का जन्म होता हैं। ऐसे महापुरुष जन्म लेकर क्या करते हैं, इस विषय मे गीता मे कहा है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात्—जब धर्म का अपमान होता है और अधर्म का साम्राज्य फैलता है, तब महापुरुष का जन्म होता है। वह महापुरुष धर्म की रक्षा करता है। मनुस्मृति में कहा है—'धर्मो रक्षति रक्षितः।' अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, धर्म उस व्यक्ति की रक्षा करता है। अतः धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसका पालन करो और परमात्मा का स्मरण करने में मन को तल्लीन कर दो। इसी में स्व-पर का कल्याण है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न से कि उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपधि रखने में लाभ नहीं वरन् उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। इसलिए शास्त्र में भी कहा गया है:—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जवभावेणं लोहं संतोसओ जिणे।

अर्थात—उपशम-क्षमा द्वारा क्रोध का नाश करो, मृदुता से मान को जीतो, आर्जव से माया को जीतो और सतोष से लोभ को जीतो।

क्रोध आदि को आत्मा का शत्रु माना जाय तो ही उन्हें जीता या नष्ट किया जा सकता है। क्रोध तो साक्षात शत्रु है ही, अहंकार भी आत्मा का शत्रु ही है। अतएव क्षमा के द्वारा क्रोध को और नम्रता के द्वारा अहंकार को जीत लेना चाहिए। जब आम के

पेड़ में फल लगते हैं तो वह नम जाता है, मगर एरण्ड नहीं नमता। अब विचार करो कि तुम आम जैसे बनना चाहते हो या एरन्ड सरीखे बनना चाहते हो ? आम सरीखा बनने के लिए तुम्हे नम्रता सीखना चाहिए। वास्तव में संसार मे वही पुरुष यशस्वी बनता है, जिसमें अहकार नहीं होता और नम्रता होती है। जिसमें अहंकार भरा है वह नष्टप्राय हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति का अहंकार ही उसके नाश का कारण बन जाता है।

रावण का नाश अहंकार के कारण ही हुआ था। वह अच्छी तरह जानता था कि सीता का हरण करके मैंने अच्छा काम नही किया। मगर उसे अभिमान था कि मैं लंका का स्वामी हूँ, अब उसे वापिस कैसे लौटाऊं ! मंदोदरी ने भी रावण को बहुत समझाया था—

तासु नारि निज सचिव बुलाई,
पहुँचावहु जो चहहु भलाई।

अर्थात्—अगर तुम अपना और राज्य का भला चाहते हो तो आज ही अपने मन्त्री को बुला कर सीता को वापिस भेज दो। मन्दोदरी ने इस प्रकार रावण को समझाया। रावण भी यह समझ गया था कि सीता को वापिस न करने से हानि ही होगी, मगर उसमें अहंकार था। वह सोचता था कि मैं जिस सीता को ले आया हूँ उसे वापिस सौंप देना मेरी कायरता कहलाएगी। लोग मुझे कायर कहेंगे। इसी अहंकार के कारण वह राम के पास सीता न भेज सका। इस अहकार का नतीजा यह हुआ कि रावण का नाश हो गया।

रावण तो अपने बल और वैभव आदि के कारण अहंकार करता था, परन्तु तुम किस बिरते पर अहंकार कर रहे हो ? अहंकार विनाश का मूल कारण है, ऐसा समझ कर अहंकार का त्याग करो और नम्रता धारण करो।

आम को कोई पत्थर मारे या लकड़ी मारे, वह तो सब को मीठे फल देता है। आम किसी पर क्रोध नहीं करता और न ऐसा अभिमान ही करता है कि मैं सब को मीठे फल देता हूँ ! इसके विपरीत तुम सार असार का विवेक कर सकने वाली बुद्धि शक्ति के धनी हो, फिर भी साधारण सी बात में क्रुद्ध हो जाते हो ! और धन के मद में चूर हो कर व्यर्थ ही अहकार का प्रदर्शन करते हो ! जरा विचार करो, यह कितनी बुरी बात है। क्रोध-अहकार वगैरह आत्मा के विकार हैं। इस विकार रूप उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। भगवान् महावीर ने भी यही बतलाया है कि उपधि का त्याग करने से हानि नहीं वरन् लाभ ही होता है। उपधि का त्याग करने से आत्मा निःसंक्लेश बनता है। आत्मा और परमात्मा में उपधि के कारण ही अन्तर है। उपधि का सर्वथा विनाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहेगा।

पानी तो सरोवर में भी होता है और एक पात्र में रक्खा हुआ पानी भी पानी ही है। पानी दोनों जगह है मगर भिन्न-भिन्न स्थिति में होने के कारण उसमें भेद है। अगर पात्र का पानी सरोवर के पानी में मिला दिया जाय तो दोनों में क्या भेद रह जायगा ? फिर तो दोनों पानी एकमेक हो जाएँगे। जहाँ तक पात्र की उपधि थी वहीं तक भेद था। पात्र की उपधि हटते ही किसी प्रकार का भेद नहीं रहा।

इस साधारण से मालूम होने वाले उदाहरण में भी बहुत सार छिपा है। इस उदाहरण से संगठन के साथ-एकतापूर्वक रहने का उपदेश मिलता है। अगर समाज में ऊपर के उदाहरण का अनुकरण किया जाय तो बहुत सुधार हो सकता है। अगर कोई मनुष्य किसी दुर्गुण के कारण समाज से वहिष्कृत हुआ हो, और फिर वह प्रायश्चित्त लेकर, दुर्गुण का त्याग करके फिर समाज में सम्मिलित होना चाहे तो उसे समाज में पूर्ववत् स्थान मिलना चाहिए। परन्तु आज समाज की स्थिति अस्तव्यस्त हो गई है और समाजव्यवस्था ठीक तरह नहीं चल रही है। समाजसेवकों को विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए समाज की व्यवस्था ठीक करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। समाज की व्यवस्था बराबर सुधर जाएगी तथा समाज में सब को समान स्थान मिलेगा तो समाज की दशा भी अवश्य सुधर जाएगी।

कहने का आशय यह है कि आत्मा और परमात्मा में कर्मरूपी उपधि के कारण ही भेद है। जो व्यक्ति कर्म की उपधि का त्याग कर देता है, वह परमात्मामय बन जाता है। इसीलिए परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना की गई है कि—

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो,
मिलके दोऊ एक रूप भई तो सुरसरि नाम परो। प्रभुजी०
एक लोहा पूजा में राखत एक घर वधिक परो।
पारस तामें भेद ना राखत कंचन करत खरो। प्रभुजी०

गटर का पानी गंदा और खराब होता है और गगा का पानी निर्मल तथा अच्छा होता है। सुना है, काशी नगरी की सब गटरें बहुत ही गंदी है और उन सब का गन्दा पानी गगा नदी मे जाता है। गंगा का पानी पवित्र और गटर का अपवित्र माना जाता है। अतएव अगर गगा अपने पानी में गटर का पानी न आने दे तो क्या तुम गगा को गगा कहोगे ? गटर गंदी होती है फिर भी गगा उसे अपने में मिला लेती है और गटर को भी गगा रूप बना लेती है। जो अपनी अपवित्रता दूर करके पवित्र बनना चाहता है, गगा उसे अपने ही समान पवित्र बना लेती है।

जब गगा भी उपाधि का त्याग करके आये हुए गटर के पानी को अपने साथ मिला कर पवित्र बना देती है तो क्या परम पवित्र परमात्मा उपाधि का त्याग करके आये हुए प्राणियों को पवित्र नहीं बनाएगा ? परमात्मा तो प्रत्येक प्राणी को—चाहे वह छोटा हो या बडा हो, उच्च हो या नीच हो—पवित्र बनाता है। उपाधि का त्याग करके आत्मा अगर परमात्मा के शरण में जाय तो आत्मा परमात्मा बन जाता है। शास्त्रकार भी यही उपदेश देते है कि उपाधि का त्याग करो और विपत्ति को भी सम्पत्ति समझ कर आत्मोद्धार करो। आत्मोद्धार करने में ही कल्याण है। जो व्यक्ति आत्मकल्याण करके पर का कल्याण करता है वही व्यक्ति पूजनीय माना जाता है।

लोग शकर को मानते हैं। पर किस कारण ? इसी कारण कि शकर जगत् का कल्याण करने वाले माने गये है। 'शंकर' की व्याख्या करते कहा गया है—'श—करोतीति शकरः।' अर्थात् जो जगत् के दुःख दूर करके जगत्कल्याण करता है, वही शकर है। कहा जाता है कि समुद्र मंथन करते-करते अन्य चीजों के साथ हलाहल विष भी निकला था। दूसरी चीजें तो दूसरे लोग ले गये पर हलाहल विष

को कौन ले ? इस विष को लेने के लिए कोई तैयार नहीं था। तब विष्णु ने शकर से कहा—आप देवाधिदेव हैं, अतएव जगत् की रक्षा के लिए विषपान करके कृतार्थ कीजिए। शंकर भोले थे। जिसमें भोलापन होता है वही जगत की रक्षा के लिए तैयार होता है। राम भी भोले थे, इसी कारण वे राज्य का त्याग करके वन में गये थे। ऐसे भोले ही परमात्मा के सन्निकट पहुँचते हैं। महादेव भोले थे, अतएव उन्होंने विषपान कर लिया।

महादेव ने तो जगत की रक्षा के लिए विषपान किया था परन्तु आज लोग महादेव के नाम पर गांजा—भाग आदि नशैली और विषैली वस्तुओं का उपयोग करते हैं। जब मैंने संयमधर्म स्वीकार नहीं किया था, वैराग्य अवस्था में ही था, तब एक बार मुझे पास के गाव में जाना पडा। मेरे पास एक आदमी था। उसने मुझसे पैसे मॉगे। मैंने उससे पूछा—पैसे किस लिए चाहिए ? उसने उत्तर दिया-मुझे दारू पीना है और इसी लिए पैसो की आवश्यकता है। मैं विरक्त अवस्था में था। मैंने उससे कहा-दारू पीने के लिए मै पैसा नहीं दे सकता। तब वह कहने लगा-दारू पीने में हर्ज क्या है ? दारू तो महादेव ने बनाई है।

इस प्रकार दारू आदि नशैली वस्तुओं का उपयोग करने में महादेव कारण बतलाये जाते हैं। व्यसनी लोग महादेव को व्यसन-पूर्ति का साधन बना लेते हैं, जब कि भक्त लाग उन्हें भक्ति का भगवान् मानते है। वास्तव मे जगत की रक्षा के अर्थ विषपान करने वाले शकर व्यसनी लोगो के व्यसनपूर्ति के साधन किस प्रकार हो सकते हैं ? शकर को तो जगत् का कल्याण करने वाले लोग ही प्यारे लगेगे। महादेव ने विषपान करके विपत्ति को भी संपत्ति के रूप में ग्रहण किया था और जगत् की रक्षा की थी। शकर बनने का

यही मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके महापुरुष महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य जगत्कल्याण के लिए स्वय कष्ट सहन करता है और विपत्ति को भी सम्पत्ति मानता है, वही मनुष्य महादेव या परमात्मा का भक्त है।

शास्त्र कहता है—उपधि या उपाधि का त्याग करने से आत्मा सक्लशहीन बनता है। शास्त्र की इस बात पर साधुओं को तो ध्यान देना ही चाहिए, मगर श्रावकों के लिए भी यह बात समान रूप से लागू पडती है। शास्त्रकारों ने साधुओं के लिए सोने-चादी की चीजों का त्याग करके केवल काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की आज्ञा दी है। तो फिर काष्ठ के पात्रों पर ममता रखने की या उन्हें गृहस्थों के घर ताले में बन्द रखने की इच्छा कितनी अनुचित है! अतएव साधुओ के लिए तो उपधि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उपधि का त्याग करना आवश्यक है। राम या भगवान् महावीर की प्रशसा उपधि का त्याग करने के कारण ही की जाती है। अतएव तुम भी त्याग का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखकर उपधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझो। विपत्ति के बादल चढ आवे तो ऐसी अवस्था में घबराहट त्याग कर परमात्मा का स्मरण करो। इससे विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जायगी।

जादूगर धूल में से रुपया पैदा करके उपस्थित जनता को आश्चर्यचकित कर डालता है। यह हाथ की चालाकी है। अगर धूल से रुपया बन सकता होता तो जादूगर क्यों पैसे की भीख माँगता? वह भीख माँगता है, इसीसे स्पष्ट जान पडता है कि यह हाथ की चालाकी है। परन्तु परमात्मा के नामस्मरण के जादू से सचमुच ही विपत्ति, सम्पत्ति बन जाती है। किसी ने कहा है—

ताम्बे से सोना बने, वह रसाण मत सीख।
नर से नारायण बने, वही रसायन सीख॥

आजकल ताम्बे से सोना बनाने वाले अनेक ठग देखे सुने जाते हैं। इन ठगों के चमत्कार से बहुतेरे पढ़े लिखे लोग भी प्रभावित हो जाते हैं। सुना है, एक बडा जागीरदार भी एक ठग के चमत्कार के चक्कर मे फँस गया था। ठग ने जागीरदार से कहा—तुम्हारे घर में जितना सोना हो, वह सब मेरे पास लाओ तो मैं उसका दुगुना बना दूँगा। इस प्रकार प्रलोभन में फँसाकर ठग जागीरदार को जंगल मे ले गया। ठग ने वहाँ जागीरदार से कहा—अब तुम्हारे पास जो अच्छी से अच्छी घोड़ी हो, ले आओ। इस सोने के चारों ओर घोड़ी की प्रदक्षिणा कराना आवश्यक है। जागीरदार ने घोडी मँगवाई। ठग घोडी पर सवार होकर कुछ देर तो उसे घुमाता रहा, फिर मौका देखकर और सोना उठाकर ऐसा भागा कि जागीरदार और उसके आदमी आँखे फाडकर देखते रह गए।

इस प्रकार ताम्बे से सोना बनाने की ठगविद्या से अनेक लोग ठगे गये हैं। परन्तु आत्मा को परमात्मा बनाने का रसायन इतना उत्तम है कि उससे विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। यह रसायन अनेक महापुरुषों द्वारा अनुभूत है। इस अनुभूत रसायन के द्वारा ठगे जाने का अणु मात्र भी अंदेशा नहीं। इस रसायन के सेवन से आत्मा परमात्मा अथवा नर, नारायण बन जाता है। तांबे से सोना बनाना तो ठगविद्या है। परन्तु आत्मा से परमात्मा प्रकटाना सच्ची सद्विद्या है। यही सद्विद्या मुक्ति का साधन है। इस साधन द्वारा आत्मा का कल्याण करो। इसी मे मानवजीवन की सिद्धि है।

चिम्मनसिंह लोढ़ा के प्रबन्ध से श्री महावीर प्रेस ब्यावर मे मुद्रित।